मुमुक्षु

आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक
त्रैमासिक

जुलाई, अगस्त, सितम्बर
१९९३

स्वामी विवेकानन्द

आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक
त्रैमासिक पत्र

वर्ष १२ : अंक ४
भाद्रपद सं० २०५०
जुलाई, अगस्त, सितम्बर
१९९३

सम्पादक
श्री नन्दकिशोर रूँगटा

सहसम्पादक
श्री स्वामी भगवत्स्वरूपदास 'भास्कर'

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी - २२१ ००५
दूरभाष : ३१००९०, ३१११८७

वार्षिक : बीस रुपये
एक अंक : ५.००

आजीवन
दो सौ इक्यावन रुपये

इस अंक में

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से 'मुमुक्षु' अथवा काशी मुमुक्षु भवन सभा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है ।

मुमुक्षु

वर्ष : १२ | जुलाई, अगस्त, सितम्बर १९९३ | अंक : ४

पदवाक्यप्रमाणपारवारीण, षड्दर्शनग्रन्थग्रन्थिभेत्ता, नित्यब्रह्मविचार-सारज्ञाग्रणी, संत्यक्तैषात्रय, भक्तजनवाञ्छाकल्पद्रुम, काशीमुमुक्षुभवनसभा के प्रथमोन्नायक, ब्रह्मीभूत **श्री १००८ श्रीस्वामी घनश्यामानन्दजी तीर्थ महाराज** के भवाब्धिसन्तरणपोतवच्चरणकमलों में ॐ नमोनारायणस्वरूप शतशः साष्टाङ्ग प्रणति ।
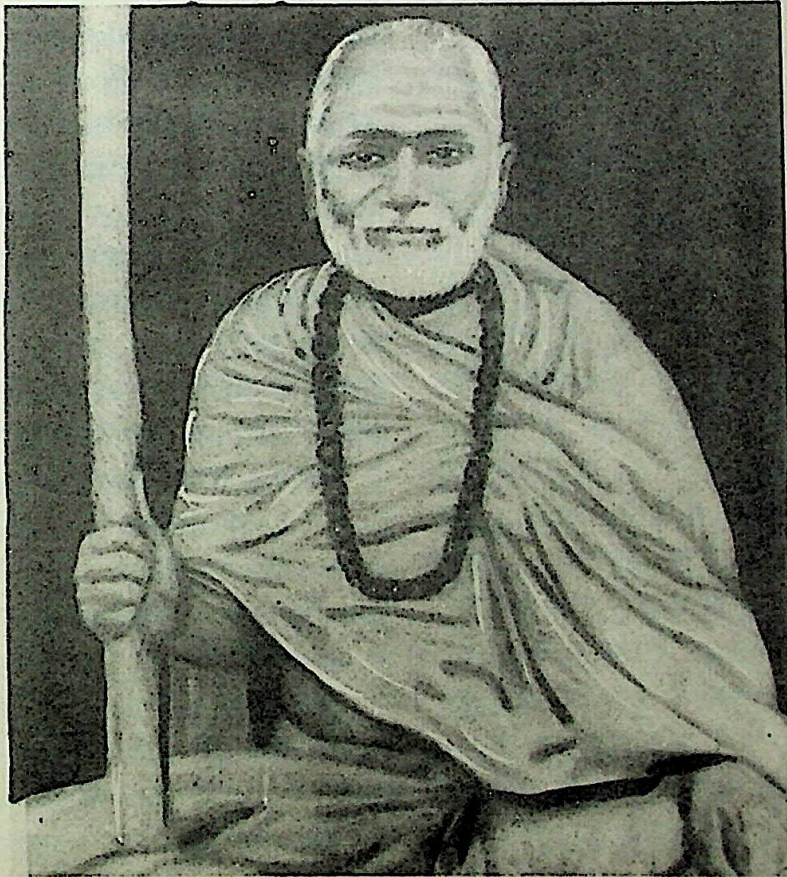
नित्यं ब्रह्मविचारणाप्रवणधीः संत्यक्त-सांसारिकव्यापारोऽखिलशास्त्रपाठनपरः प्रज्ञावतामग्रणीः ।
यस्याखण्डतपः प्रभावविगतक्रोधादिवैरिव्रजः सौधोप्याश्रमवद्विभाति स घनश्यामो यती राजते ।।

गुरुकृपाकाँक्षी एक अनन्य

मन ऐसा निर्मल भया

स्वामी श्री भगवत्स्वरूपाचार्य 'भास्कर'

ज्ञान की प्रक्रिया में मन इन्द्रियों के रास्ते से जाकर विषयाकार होता है और विषय का ज्ञानात्मक संस्कार लेकर आत्मा (बुद्धि) को देता है तथा स्वयं बुद्धि की डोर से बँधा होने के कारण रागान्वित हो जाता है। यही रागान्वित मन भारी मन होता है जो आलस्य व प्रमाद को जन्म देता है या स्वेच्छाचारी बनने की बात करता है। वही संकल्प-विकल्प उसे नचाता रहता है। धन व स्त्री के लिए लोलुप व्यक्ति, या रजोगुणान्वित-चित्त वाले व्यक्ति को यदि मदिरा पिलाकर सुला दिया जाय तो वह भारी-भारी होकर सो तो जायेगा किन्तु जागने पर यदि उस पर सद्गुण का आरोप किया जाय तो वह स्वच्छन्द होना चाहेगा। इसके लिए वह रजोगुण के परिणाम का अवलम्बन लेकर उसकी तुष्टि के लिए बेचैन हो जायेगा। इसी रजोगुणात्मक मन को ही भारी मन कहते हैं तथा इसे हलका करना मन के संशोधन की प्रक्रिया है। संशोधित मन ही सरल होता है। वह पारदर्शी हो जाता है। मन में मैल जमने का क्रम हलके से भारी की तरफ है किन्तु स्वच्छ करने का क्रम विलोम है। यानी पहले भारी मन का निराकरण, फिर उससे कम, फिर हलके मल का संशोधन। क्योंकि झीना मल सबसे निचला स्तर है। कोई व्यक्ति यदि चाहे कि वह शराब पीता रहे और पहले आलस्य, प्रमाद या नशा छोड़ दे, ऐसा हो नहीं सकता। पहले तमोगुण का त्याग जरूरी है। पुनः रजोगुण का कोमल स्तर आता है। इससे व्यक्ति की क्रियाशक्ति का संशोधन होता है। इसके बाद सात्त्विक मल आता है जिसके स्वरूप का संशोधन करना पड़ता है। वैसे सात्त्विक मल अधिक हानिकर नहीं होता। उसको मोड़कर हम परमात्मा की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। मल जमना स्वाभाविक है, किन्तु मल का निराकरण भी स्वाभाविक होता है। मान लीजिए किसी दर्पण पर गंदलापन बैठ गया तो उसका क्रम विचित्र होता है। पहले किसी ने थोड़ी पानी की चिकनाहट कर दी, फिर इस पर थोड़ी धूल जम गयी, पुनः जमते-जमते वह धूल की पर्त मोटी हो गयी, और दर्पण इतना गन्दा हो गया कि अपना चेहरा भी दिखना बन्द हो गया। यही तमोगुण से मन का आच्छादन है। किन्तु जब स्वच्छ किया जायेगा तो प्रथम धूल का मोटापन साफ किया जायेगा, बाद में धूल का हल्का आवरण तथा अन्त में जल की चिकनाई। ऐसा स्वच्छ मन बिल्कुल अपने स्वरूप का दर्शन आसानी से कर सकता है। ऐसे स्वच्छ मन को ही सरल व सीधा-सादा मन कहते हैं जिसमें रहने वाले प्रत्येक तत्त्व का पता साधक को चल जाता है।

वाराणसी के गंगा घाट पर एक बार कबीरदास जी बड़े गौर से पानी में झाँक रहे थे। वे कभी प्रसन्न हो जाते तो कभी उल्लसित हो जाते। उनकी आँखों में चमक थी, शरीर में पुलक था, हृदय प्रेम उमड़ पड़ता था। एक व्यक्ति ने कबीर की इस हालत को देख लिया और पूछा—बाबा, आप गंगा में क्या देख रहे हैं? कबीर की जैसे समाधि टूटी और बोल पड़े—मैं अपने मन को देख रहा हूँ। उसने कहा—आपका मन आपके शरीर में है और आप उसे गंगा में देख रहे हैं। कबीर बोले—मन को मैं मिला रहा हूँ जो बिल्कुल गंगा के जल जैसा हो गया है। वे मस्ती में गा उठे—'मन ऐसा निर्मल भया, जैसे गंगानीर।' कबीर की समाधि-भाषा उस व्यक्ति की समझ में नहीं आयी तो कबीर समझाये कि तुम गंगा

के निर्मल जल में देखो, सारी चीज अपने आप स्पष्ट हो जायेगी । उसने उत्सुकता-वश जल में देखा । कबीर ने पूछा—निर्मल जल में क्या-क्या दिखता है । वह बोला—जल, मछलियाँ, तल तथा प्रतिबिम्बित आकाश और भी बहुत सारी चीजें । कबीर ने पूछा—ये सारी वस्तुयें क्यों दिखती हैं ? उस व्यक्ति ने कहा—क्योंकि जल बिल्कुल स्वच्छ है तथा पारदर्शी है । कबीर बोले, बस इसी तरह निर्मल व स्वच्छ मन होता है । यदि मन निर्मल हो जाय तो इतना पारदर्शी हो जाता है कि उसका अपना स्वरूप, उसमें उत्पन्न छोटे-छोटे कोमल संकल्पों का स्वरूप तथा उसके बीच में प्रतिबिम्बित आत्मा का स्वरूप सभी कुछ दृष्टिगत हो सकते हैं । गंगाजल में आकाश का प्रतिबिम्ब देखने के लिए छोटी-छोटी मछलियाँ बाधक नहीं हैं । हाँ, बड़ी-बड़ी मछलियाँ जब हलचल करके तल की धूल को जल में मिला देती हैं तो जल गंदला हो जाता है जिससे फिर न तो स्वच्छ जल ही दिखता है और न अपना व आकाश का प्रतिबिम्ब ही दिखता है तथा वे तैरने वाली मछलियाँ भी नहीं दिखतीं । इसी प्रकार मन में रहने वाले बुदबुद की तरह छोटे संकल्प जो बुद्धि के द्वारा विशेष विचारणीय नहीं है वे आत्मदर्शन में बाधा नहीं डालते, किन्तु जिस संकल्प में बुद्धि का विचार, जो तली की धूल के समान है, मिल जाता है, वह मन की स्वच्छता का बाधक है । इसीलिए सात्विक संकल्प परमात्मा-प्राप्ति में बाधक नहीं क्योंकि उससे मन की सरलता का बाध नहीं होता । किन्तु अतिबौद्धिकता ही मन की सरलता को इतना जटिल कर देती है कि न मन ही दिखता है और न मन के संकल्प । आत्म-दर्शन तो बहुत दूर की वस्तु है । इसीलिए दुनिया के प्रत्येक विचारक व तत्त्वदर्शियों ने मन की सरलता पर जोर दिया है । क्राइस्ट कहते हैं—वे महान् हैं जो सरल हैं क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है । भगवान् बुद्ध ने, महाबीर ने तो मन की सरलता पर ही प्रयोग किये । इसीलिए कि उन सन्तों ऋषियों का मन सरल था, वाणी सरल थी, व्यवहार सरल था । वे पूर्ण निर्मल हो चुके थे । पूर्ण आनन्दमय हो चुके थे । उनका जीवन परमात्मा-प्राप्ति के लिए विशेष अभ्यास नहीं करता था । वे भक्ति-युक्त थे । उनके सुन्दर नामसंकीर्त्तन से ही भगवान् का, आत्मतत्त्व का प्राकट्य हो जाता था ।

बौद्धिक-वितण्डावाद ही जीवन व व्यक्तित्व को जटिल बना देता है । ऐसा बौद्धिक व्यक्ति न तो स्वयं को समझ पाता है न आत्मा को । बुद्ध बिल्कुल सरल थे । किन्तु उनके दर्शन को धर्मकीर्ति आदि ने जटिल बनाया । महावीर अत्यन्त अहिंसक व सरल थे किन्तु उनके अनुयायियों ने, पण्डितम्मन्यों ने महावीर को सप्तभंगी न्याय में डाल दिया । 'नमो अरिहन्ताणं' कितना साफ सुथरा उद्घोष है, वीतरागिता जीवन की जटिलताओं से बहुत दूर है ।जहाँ सत्य का अनवरत विलास है ।इसी प्रकार महर्षि गौतम ने जिस न्यायशास्त्र की रचना की, वह जिन्दगी का सरल सत्योन्मेष था, जो अत्यन्त निर्मल एवं निर्विवाद साधना का विषय था । किन्तु नव्यनैयायिकों ने गौतम के साधनासूत्रों की परम्परा को तिलांजलि देकर अपनी बौद्धिक जटिलताओं से अविच्छिन्न एवं व्यापकता से परिच्छिन्न कर दिया, मस्तिष्क उलझ गया उस तर्क के जंगल में, जहाँ कोई परिचित रास्ता न रह गया । सूत्रों में श्रद्धा है तो भाष्यों में तर्क का प्राबल्य । सूत्रों में अन्तर्मुखता है तो व्याख्यायें बहिर्मुख हो गयीं । भारतीय दर्शनों का विकास सरलता से जटिलता की यात्रा है, आत्मतत्त्व से बौद्धिकता की यात्रा है । वेदान्तियों ने कितने सरल एवं जीवन में उतारने लायक ब्रह्मसूत्रों को अपने बौद्धिक वमन से जहरीला बना दिया । खण्डन के खण्डखाद्य पकाने लगे और मण्डन का श्रृंगार बिखर गया । वाद-विवाद की विषैली परम्परा चल पड़ी । वैदिक कीर्ति को धर्मकीर्ति ने धूमिल किया तो धर्मकीर्ति की पताका शंकराचार्य ने ध्वस्त कर दी तो श्रीरामानुजाचार्य से भी न रहा गया वे शंकराचार्य पर ही टूट पड़े और अद्वैत को मटियामेट करके रख दिया । मध्वाचार्य आदि

ने भी अपने-अपने बौद्धिक तर्क प्रयोग किये जो वस्तुतः चिन्तन को एक-एक दृष्टि मात्र देकर चलते बने । आनन्द के शान्त क्षेत्र तक न जा सके । इन सबसे निश्चित अछूते रहे कबीर के गुरु स्वामी रामानन्द । जो खण्डन आदि से दूर राम भजन का ही उपदेश देते रहे, 'जाति पाँति पूछै नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई ।' किन्तु हरि का होना भी बिना मन की सरलता के अति दूर आकाश—कुसुम जैसा ही है ।

यदि देखा जाय तो वेद की ऋचाओं की भाषा जितनी सरल है वैसी भाषा दुनिया के किसी बौद्धिक दर्शन की नहीं है । बिल्कुल सीधी-सादी कि हर कोई समझ ले । जिसे हम आत्मानुभूति की भाषा कहते हैं । बिल्कुल रोड की भाषा । बुद्धि की जटिलता का कोई लेप नहीं, तथा परस्पर कोई विरोध नहीं । विरोध दिखता है तो क्षणिक है तथा वह तुरन्त दूर हो जाता है । वेद वस्तुतः समाधि की भाषा बोलते हैं । पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि की भाषा नहीं या वृहस्पति की भाषा नहीं । आत्मा की भाषा, आत्मा जैसी सरल एवं व्यापक होती है । वह व्याकरण के जटिल नियमों में नहीं बंधती, बल्कि व्याकरण ही उसके द्वारा अनुशासित होकर कृतार्थ होते हैं । पश्चिम के दार्शनिक छोटे-छोटे वाक्यों में अधिक गम्भीर बात को सरल ढंग से कहने के लिए बेकन की बड़ी प्रशंसा किया करते हैं । किन्तु वे भूल जाते हैं कि हमारे वेदों की भाषा और सरल व गम्भीर है । यह उन ऋषियों की समाधि से निकली अमृतमयी अभिव्यक्ति है जो प्राकृतिक शब्द व अर्थ से निरपेक्ष हो चुके थे । जो बड़े-बड़े सम्राटों को भी शूद्र पद से सम्बोधित कर फटकार देते थे । धनाध्यक्षों कुबेरों के कृपाकांक्षी नहीं थे । बल्कि जो सम्पूर्ण प्रकृति को वशीभूत करके अपने अनुभूतियों को विराट कर लिये थे । जिनका ध्यान ऐशो आराम वाले महलों में पाँच मिनट वाला नहीं था । युग-युग तक की दृढ़ स्थिति, मन व बुद्धि के पार अविचल स्थिति कि शरीर बल्मीक हो गया, उसका मांस गल गया है, हड्डियों को कीड़े खा रहे हैं किन्तु समाधि है कि लगी हुई है । सहस्रों वर्षों के बाद जब सप्तर्षियों ने दीमक की बावी में ढँके हुए एक ब्राह्मण की समाधि को छुड़ाने का प्रयास किया तो बावी में से ही राम की ध्वनि करते हुए उस ब्राह्मण ने अपनी आँखे खोली तो आश्चर्य में पड़ गया । देखा—शरीर तो नष्ट हो चुका है किन्तु प्राणों को प्रकृति ने सुरक्षित कर रखा है । उसकी आत्मा में चैतन्य का स्पन्दन हुआ और नव्य दिव्य शरीर प्रकट हुआ जिसे सप्तर्षियों ने बाल्मीकि कहा । उन बाल्मीकि महर्षि का हृदय कितना सरल होगा जिसकी समाधि अत्यन्त गहरी हुई । इसका पता तब लगा जब एक क्रौंच पक्षी के आर्तनाद पर उनका भावुक हृदय विकल हो गया । जो जितना ही सरल मन वाला होगा उसका हृदय उतनी ही जल्दी भावुक एवं करुण हो जायेगा । यह आप देख सकते हैं । कितने कवियों का मन इसी तरह हुआ । भावुकता मन की सरलता का परिणाम है । भक्त कवि बड़े सहज एवं सरल थे । उनका मन बड़े भोले बच्चे की तरह हो गया था । कवियों में ही रागात्मिका भक्ति का उदय हो जाता है । ऐसे रागात्मिकाभक्तिसम्पन्न कवि भारतीय सन्त हो गये जिन्हें भगवत्तत्त्व का साक्षात्कार हुआ, जो उनके सरल हृदय व मन की भावुकता का फल था । उनकी वाणी बिल्कुल सरल, स्वाभाविक, समाधि के आनन्द में घुली हुई, सूत्रात्मक थी जिसका अर्थ आज का जटिल मानव कैसे लगा सकता है । वैदिक ऋषियों की वाणी कितनी सरल है जिसे आज के मिनी युग में अल्ट्रा माडर्न (अत्याधुनिक) कहा जा सकता है ।

श्वेतकेतु आता है बुद्धि की जटिलता लिए हुए, तो उसके तत्त्वदर्शी पिता पूछते हैं कि पुत्र क्या तुमने वह भी पढ़ा जिसके पढ़ने से सब पढ़ लिया जाता है । यह कथन कितना रोचक, सरल एवं जिज्ञासा-वर्द्धक है । आज की भाषा में कहा जाय तो हिप्नोटाइज करने वाला है । फिर पिता ने कहा—श्वेतकेतु 'तत्त्वमसि' वह तुम्हीं हो । कितना सीधा एवं सरल वाक्य है । उपनिषदों में जो

चार महावाक्य बताये गये हैं, उनकी भाषा विश्व की सबसे सुग्राह्य, सरल तथा शैली सबसे आधुनिक है । यह जटिलताओं की भूसी से निकाली गयी चावल सी नहीं है वरन् बिल्कुल ओरिजिनल है । इतनी ओरिजिनल एवं सरल कि कहीं भी तर्क-कुतर्क की गुञ्जाइश नहीं, लेकिन गूढ़ार्थ लिये है । इन चार महावाक्यों पर करोड़ों ग्रन्थ बुद्धि ने लिखे हैं, तथा बौद्धिक लोग लिखेंगे लेकिन अभी तक विश्व में उसके समाधिमय अर्थ का खुलासा नहीं कर पाये तथा उस आनन्द को बाँट नहीं पाये जो इन वाक्यों ने स्वतः प्रकट होकर दुनिया में बाँटा । वैदिक भाषा बिल्कुल व्यवहार की रोड की भाषा है, जैसे कोई व्यक्ति प्रातःकाल कहीं जा रहा हो और दूसरा उससे कहे—'थोड़ा रुको !' वह रुक जाय तो वह फिर कहे—'सूर्य को देखो ! क्या तुम सूर्य में कुछ देखते हो ? वह कहता है मुझे प्रकाश दिखता है । दूसरा कहता है—सूर्य में राम को देखो ! बगल में सीता भी हैं । वह कहता है—हाँ दिख गया, उनका मुख किरणों से ढका है ।' बिल्कुल सरल, व परस्पर के बोलचाल की शैली है और यही मन की सरलतम स्थिति का द्योतक है । आश्चर्य तो तब होता है जब एक बार देवता, मनुष्य तथा राक्षस ब्रह्मा के पास गये । कितने बड़े बौद्धिक, शास्त्रज्ञ, शायद नवों व्याकरणों के मर्मज्ञ रहे होंगे । किन्तु सीधे-सादे ब्रह्मा जी ने एक अक्षर का उपदेश कर दिया जिसमें समग्र शास्त्रों का मर्म घुला था । ब्रह्मा ने कहा 'द' और सारे शास्त्रज्ञों वैयाकरणों ने इसका विवेचन किया, फिर भी भिन्न-भिन्न ही अर्थ निकाले । देवताओं ने अपने लिए 'दम' अर्थ लिया क्योंकि उनकी बुद्धि भोगासक्त थी उससे बचने का उपाय यही था और वैयाकरण वृहस्पति, इन्द्र, चन्द्र ने इसका अनुमोदन कर दिया । राक्षसों ने इसका अर्थ 'दया' लिया और बड़े शास्त्रज्ञ शुक्राचार्य तथा विरोचन आदि ने उसका अनुमोदन कर दिया । क्योंकि क्रूरबुद्धि राक्षसों के कल्याण के लिए 'दया' ही मात्र औषधि थी । मनुष्यों ने जिनकी बुद्धि लोभग्रस्त थी उस 'द' का अर्थ 'दान' लिया और पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, गौतमादि ने उसका समर्थन कर दिया किन्तु ब्रह्मा का 'द' तो ब्रह्मा ही जानें । वह 'त' और 'प' की तरह शायद कुछ अपरिमित अर्थ वाला ही हो ।

कहने का तात्पर्य यह है कि समाधि की भाषा सरल एवं अर्थ गूढ़ होता है । यद्यपि समाधिमान् पुरुष के लिए भाषा और अर्थ दोनों अधिक सरल होते हैं । क्योंकि उसका अन्तःकरण अतिसरल है । मन की सरलता जीवन की अमूल्य निधि है । समाधि लाभ के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है । सिर्फ मन को सहज सरल कर लो समाधि घर बैठे लग जाती है ।

'सहज विमल मन लागि समाधी ।' देवर्षि नारद की समाधि प्रयास साध्य नहीं होती क्योंकि उनका मन सरल होता है । एक बार राम कह दिया, मन शान्त हो गया । आह्लाद से भर गया । मन की सरलता वैसे-वैसे सहज होती जाती है । क्योंकि सहज, सरल मन के मल विक्षेप व कषाय सभी कुछ निवृत्त हुए रहते हैं । उसे ध्यान में जाने की कठिनाई नहीं होती । ऐसे सरल मन के स्तर को लाँघना भी नहीं होता क्योंकि वह स्वयं आनन्द का, आत्मा का स्तर बन जाता है । कबीर का व्यक्तित्व इसी सहजता से ओत-प्रोत था । इसीलिए वे मस्ती में कहा करते थे—'साधो सहज समाधि भली ।' गोस्वामी तुलसीदास जी जब श्रीराम से मिले तो अत्यधिक सरल हो गये थे । वर्ण-आश्रम, दम्भ, पाखण्ड, मर्यादा आदि का बन्धन वे छोड़कर राम के सरनाम गुलाम हो गये थे । कहते थे—'धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ ।' और उन सन्त को यह भी परवाह नहीं थी कि लोग क्या-क्या कहेंगे क्योंकि वे राम के दीवाने राम-से साँचे हो चुके थे । राम से सच्चाई, बिना कपटराहित्य के नहीं होती । और कपटराहित्य, बिना सरलता के नहीं आता । 'मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।' यह परमार्थप्राप्ति का सिद्धान्त है । ☐

सम्बन्ध

जे० कृष्णमूर्ति

कर्म सम्बन्ध है, है न ? केवल सम्बन्ध में ही कर्म अर्थपूर्ण होता है । सम्बन्ध की समझ बिना कर्म चाहे किसी भी तल पर हो केवल संघर्ष ही बढ़ाता है । किसी भी कर्म की योजना खोजने की अपेक्षा संबंध को समझना अपरिमेय रूप से महत्त्वपूर्ण है । विचारधारा, कर्म का साँचा (पैटर्न) कर्म को रोक देता है । किसी विचारधारा पर आधारित कर्म आदमी-आदमी के बीच के सम्बन्ध को समझने में रुकावट लाता है । विचारधारा चाहे वह दक्षिणपंथी हो या वामपंथी, धार्मिक हो अथवा धर्मनिरपेक्ष, सम्बन्ध को वह हमेशा नष्ट करती है । सम्बन्ध की समझ ही वास्तविक कर्म है । सम्बन्ध की समझ के अभाव में कलह और शत्रुता, युद्ध और भ्रम अनिवार्यतः बने रहेंगे ।

सम्बन्ध का अर्थ सम्पर्क, सहभागिता । जहाँ लोग विचारों के आधार पर बँटे हुए हैं वहाँ सहभागिता नहीं। कोई मत अपने गिर्द लोगों का एक समूह एकत्र कर ले सकता है । ऐसा समूह अवश्यम्भावी रूप से विरोध उत्पन्न करेगा और इस प्रकार भिन्न मत के आधार पर एक दूसरा समूह खड़ा होगा ।

आदर्शों के चलते समस्या स्थगित हो जाती है । कर्म होता है समस्या से सीधा सम्बन्ध होने पर ही । पर विडम्बना यह कि हम सभी निष्कर्षों को साथ लेकर समस्या का समाधान करते हैं, व्याख्या को साथ लेकर जिसे हम कहते हैं, आदर्श । इन तरीकों से तो कर्म स्थगित हो जाता है । विचार कल्पना का शाब्दिक रूप है । शब्द, प्रतीक, बिम्ब के बिना विचार नहीं । विचार-स्मृति की, अनुभव की अनुक्रिया है जो प्रतिबन्धित करती है । ये प्रभाव केवल अतीत के ही नहीं वरन् अतीत और वर्तमान के संयोग से बने हैं । इस प्रकार वर्तमान में अतीत की अनुक्रिया, प्रतिक्रिया है, और विचार चाहे कितना भी व्यापक हो सदैव सीमित है । इस प्रकार विचार सदा ही लोगों को पृथक् करता है ।

संसार सदा विनाश के निकट है, पर अभी वह ज्यादा निकट लगता है । विनाश को निकट आते देखकर हममें से अधिकतर लोग कल्पना की शरण लेते हैं । हम सोचते हैं कि कोई विचारधारा द्वारा इस विनाश का, संकट का समाधान हो सकता है । विचारधारा, सिद्धान्त प्रत्यक्षतः सदा ही सम्बन्ध में बाधक हैं और वे कर्म को रोकते हैं । हम केवल विचारों में शान्ति चाहते हैं, यथार्थ में नहीं । हम शान्ति चाहते हैं मौखिक स्तर पर, जो स्तर हैं केवल विचार का, कल्पना का, यद्यपि हम उसे गर्व से बौद्धिक स्तर कहते हैं । लेकिन शान्ति शब्द शान्ति नहीं है । आपने और दूसरों ने भ्रम खड़ा किया है । शान्ति सच्चाई तभी बनेगी जब वह भ्रम समाप्त हो जाए । हम लोग शान्ति से नहीं वरन् कल्पना संसार से जुड़े हुए हैं । हमें तलाश है नयी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था की, तलाश शान्ति की नहीं, प्रभावों परिणामों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने की हमें चिन्ता है, हमें इस बात की परवाह

नहीं है कि युद्ध के कारणों को समाप्त कर दिया जाए । इस तलाश से तो अतीत के द्वारा प्रतिबन्धित उत्तर ही मिलेगा जिसे हम ज्ञान, अनुभव कहते हैं और इसी ज्ञान के अनुसार हम तथ्यों के नये बदलाव का अर्थ निकालते हैं, व्यवस्था करते हैं । अतः जो है और जो हो रहा है के अनुभव के बीच टकराव उत्पन्न होता है । ज्ञान जो अतीत है, निश्चित रूप से हमेशा वर्तमान में मौजूद तथ्य से टकराव में रहेगा । इसलिए वह समस्या का समाधान नहीं कर पाएगा वरन् वह उन स्थितियों को ही सदा कायम रखेगा जिन्होंने समस्या उत्पन्न की है ।

अपने पूर्वाग्रहों के अनुसार निष्कर्षों और समाधानों को लेकर, समस्या के सम्बन्ध में कल्पनाएं लेकर हम समस्या का सामना करते हैं । हम स्वयं और समस्या के बीच सिद्धान्तों का परदा तानकर बाधा खड़ी करते हैं । फिर स्वाभाविक है कि समस्या का समाधान सुझाया जायेगा सिद्धान्त के अनुसार, इससे दूसरी समस्या उत्पन्न होगी उस समस्या का समाधान किए बगैर जिसको लेकर हमने आरम्भ किया ।

सम्बन्ध है हमारी समस्या, न कि सम्बन्ध के बारे में हमारी कल्पना, एक खास स्तर पर नहीं, वरन् अस्तित्व के सभी स्तरों पर ऐसा ही है । यही है हमारी एकमात्र समस्या । सम्बन्ध की ठीक समझ के लिए हम अनिवार्य रूप से सभी सिद्धान्तों से मुक्त हो जाएं, सभी पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर आगे बढ़ें, न केवल अशिक्षित लोगों के पूर्वाग्रहों से वरन् ज्ञान के पूर्वाग्रह से भी । अतीत के अनुभव से समस्या की समझ जैसी कोई चीज है नहीं । हर समस्या नयी है । पुरानी समस्या, ऐसा कुछ भी नहीं है । जब हम किसी समस्या का समाधान करते हैं जो सदैव नई है, किसी कल्पना को लेकर जो अनिवार्यतः अतीत की देन है, तो हमारी प्रतिक्रिया, अनुक्रिया भी अतीत की ही होगी, और यह समस्या को समझने में रुकावट है ।

समस्या के समाधान की खोज से समस्या की तीव्रता बढ़ती है । उत्तर या समाधान समस्या से हट कर कहीं अलग नहीं है । अवश्य ही हम समस्या को बिल्कुल नये ढंग से देखें, अतीत के पर्दे से नहीं । चुनौती के जवाब की अपर्याप्तता समस्या उत्पन्न कर देती है । चुनौती नहीं, वरन् अपर्याप्तता को समझ लेना आवश्यक है । हम उत्सुक हैं कि कुछ नया देखें पर हम उसे देख नहीं सकते, क्योंकि अतीत का बिम्ब स्पष्ट बोध में रुकावट बन जाता है । हम चुनौती का—जवाब केवल सिंहली अथवा तमिल, बौद्ध अथवा वामपंथी अथवा दक्षिणपंथी के रूप में करते हैं, इससे अवश्यम्भावी रूप से और भी संघर्ष उत्पन्न होता है । अतः महत्त्व की बात नये को देखना नहीं है वरन् महत्त्व की बात है पुराने को हटाना । जब चुनौती के सन्दर्भ में जवाब पर्याप्त होगा तभी सम्भव है कि संघर्ष न रहे समस्या न रहे । इसे हम अपने नित्य के जीवन में देख सकते हैं, समाचार पत्रों के अंकों में नहीं ।

सम्बन्ध नित्य के जीवन की चुनौती है । यदि आप और मैं और दूसरा, यह नहीं जानते कि आपस में किस प्रकार मिलें तो हम ऐसी परिस्थितियाँ बना रहे हैं कि युद्ध बढ़ता रहेगा । अतः संसार की समस्या आपकी समस्या है । आप संसार से भिन्न नहीं हैं । आप ही हैं संसार । आप जो भी हैं वही है संसार । आप संसार को देख सकते हैं, जो आप स्वयं हैं, केवल अपने नित्य के जीवन-सम्बन्ध की समझ से । कठमुल्लापन कथित धर्म, वाम या दक्षिण पंथ से नहीं, अथवा किसी सुधार से नहीं, चाहे वह कितना भी विस्तृत हो । आशा है आप में विशेषज्ञ, सिद्धान्त, विचारधारा अथवा किसी नये नेता से कोई आशा नहीं ।

आप कह सकते हैं, साधारण जीवन जीते हुए, सीमित क्षेत्र में रहते हुए वर्तमान विश्व को आप कैसे प्रभावित कर सकते हैं । मैं नहीं सोचता कि आप प्रभावित कर सकते हैं । वर्तमान संघर्ष अतीत की देन है, जिसे निर्मित किया है आपने और दूसरों ने । जब तक आप और दूसरे वर्तमान सम्बन्ध को आमूल बदल नहीं देते, पीड़ा बढ़ाने में आप केवल सहायता पहुँचाते रहेंगे । तथ्य का यह

कोई अतिसरलीकरण नहीं है । यदि आप इस पर पूरी तरह गौर करें तो आप देख पाएंगे कि दूसरों के साथ आपका सम्बन्ध विस्तृत होकर, संसारव्यापी संघर्ष और विरोध लाता है ।

आप हैं संसार । व्यक्ति अर्थात् आपके परिवर्तन के बिना संसार में आमूल क्रान्ति नहीं हो सकती । व्यक्ति के परिवर्तन के बिना सामाजिक व्यवस्था में क्रान्ति से संघर्ष और विनाश में केवल बढ़ोत्तरी ही होगी । क्योंकि समाज है—आप और मैं और दूसरे के बीच का सम्बन्ध । इस सम्बन्ध में मौलिक क्रान्ति के बगैर शान्ति लाने का समस्त प्रयास केवल सुधारवाद है, चाहे वह क्रान्तिकारी प्रतीत हो, पर वह है अधःपतन ।

आपसी आवश्यकता के आधार पर स्थापित सम्बन्ध केवल द्वन्द्व लाता है । हम कितने ही अन्योन्याश्रित क्यों न हों, हम एक दूसरे का इस्तेमाल एक प्रयोजन, एक उद्देश्य के लिए कर रहे हैं । जहाँ कोई मतलब है वहाँ सम्बंन्ध नहीं है । आप मुझे इस्तेमाल कर सकते हैं और मैं इस्तेमाल कर सकता हूँ आपको । मतलब जुड़े इस इस्तेमाल में हम सम्पर्क खो देते हैं । समाज जो परस्पर प्रयोग पर टिका है, आधारशिला है हिंसा की । जब हम किसी का इस्तेमाल करते हैं तब हमारे सामने उस लक्ष्य की तस्वीर होती है जिसे हम पाना चाहते हैं । लक्ष्य, लाभ, सम्बन्ध, तादात्म्य कायम नहीं होने देता । दूसरे के इस्तेमाल में, भले ही वह सुखकर हो, आरामदायक हो, सदैव भय बना रहता है । इस भय को टालने के लिए हम आधिपत्य चाहते हैं । इस आधिपत्य से ईर्ष्या, शक और सतत द्वन्द्व होता है । ऐसा सम्बन्ध कभी भी प्रसन्नता नहीं ला सकता ।

समाज, जिसका ढाँचा महज आवश्यकता पर टिका हो, चाहे वह आवश्यकता शारीरिक अथवा मनोवैज्ञानिक हो, अनिवार्य रूप से द्वन्द्व, भ्रम और पीड़ा बढ़ाएगा । समाज है दूसरे के साथ आपके सम्बन्ध से बने स्वयं आपकी प्रज्ञप्ति, और उसमें आवश्यकता तथा इस्तेमाल प्रधान है । जब आप किसी दूसरे का इस्तेमाल अपनी आवश्यकता के लिए करते हैं, शारीरिक अथवा मनोवैज्ञानिक रूप से, तो वहाँ यथार्थ में थोड़ा भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता, सचमुच आपका कोई भी सम्पर्क दूसरे से नहीं रहता, दूसरे से कोई सरोकार नहीं । यदि आप दूसरे का इस्तेमाल अपनी सुविधा और आराम के लिए, एक फर्नीचर की भाँति करते हैं, तो उससे आपका तादात्म्य कैसे बन सकता है ? अतः नित्य के जीवन में सम्बन्ध के गहरे अर्थ को समझना अनिवार्य है ।

सम्बन्ध क्या है यह हम समझते ही नहीं, हमारे अस्तित्व की सम्पूर्ण प्रक्रिया हमारे विचार और कार्य, कारण हैं अलगाव के, और यही सम्बन्ध को रोक देता है । महत्त्वाकांक्षी, धूर्त, विश्वासी दूसरे से सम्बन्ध नहीं बना सकता । वह दूसरे का केवल इस्तेमाल कर सकता है जिससे उत्पन्न होता है भ्रम और शत्रुता । यही भ्रम और शत्रुता हमारे मौजूदा सामाजिक ढाँचे में मौजूद हैं, दूसरे मनुष्य के सम्बन्ध में जब तक हमारी मनःस्थिति में मौलिक क्रान्ति नहीं आती, किसी सुधरे हुए समाज में भी वे मौजूद रहेंगे । जब तक हम एक लक्ष्य की खातिर साधन के रूप में दूसरे का इस्तेमाल करते रहेंगे, चाहे वह लक्ष्य कितना भी अच्छा हो, तब तक हिंसा और अव्यवस्था अनिवार्यतः बनी रहेगी ।

यदि आप और मैं अपने में आधारभूत क्रान्ति लाते हैं, आपसी आवश्यकता पर आधारित नहीं—चाहे वह आवश्यकता शारीरिक हो अथवा मनोवैज्ञानिक, तो वैसी स्थिति में दूसरे के साथ हमारे सम्बन्ध में क्या मौलिक परिवर्तन नहीं आ जाता ? हमारी कठिनाई है कि हम एक चित्र लिए होते हैं—नया सुगठित समाज ऐसा होना चाहिए, और ढाँचे में हम स्वयं को निश्चित ठीक जगह पर रखने की कोशिश करते हैं । ढाँचा तो स्पष्टतः काल्पनिक है पर जो सच है वह यह कि हम वास्तविक हैं । आप क्या हैं इसकी समझ आवश्यक है । आप जो हैं वह नित्य-सम्बन्ध के दर्पण में स्पष्ट रूप से दिखता

है । निश्चित ढाँचे का अनुसरण केवल और भी द्वन्द्व तथा भ्रम उत्पन्न करता है ।

निश्चय ही वर्तमान सामाजिक अव्यवस्था और दुर्दशा का खुद ही हल होना चाहिए । पर आप और मैं दूसरे लोग सम्बन्ध की सच्चाई को देख सकते हैं और अवश्य ही हम इसे देखें, और इस प्रकार एक नये कार्य का प्रारम्भ होगा जो आपसी आवश्यकता और सन्तुष्टि पर आधारित नहीं रहेगा । हमारे सम्बन्धों में मौलिक परिवर्तन के बगैर वर्तमान समाज के महज ढाँचे का सुधार अधःपतन है । क्रान्ति जो किसी उद्देश्य के लिए आदमी के इस्तेमाल करने का सिलसिला जारी रखती है, चाहे वह कितनी भी आशाजनक प्रतीत हो, वह और युद्ध एवं अथक पीड़ा उत्पन करती रहती है । उद्देश्य तो हमारी अपनी ही प्रतिबन्धित स्थिति का प्रक्षेपण है । वह चाहे कितना भी सम्भावनापूर्ण और आदर्शवादी प्रतीत हो उद्देश्य केवल जरिया है और भ्रम एवं कष्ट बढ़ाते जाने का । इन सब में महत्त्व की बात नया ढाँचा नहीं है, ऊपरी नये परिवर्तन भी नहीं, वरन् महत्त्व की बात है मनुष्य की सम्पूर्ण प्रक्रिया की समझ, मनुष्य, जो आप हैं ।

स्वयं को समझने की प्रक्रिया में, अलग-थलग होकर नहीं वरन् सम्बन्धों के दर्पण में, आप देखेंगे कि एक गहरा और स्थायी परिवर्तन आ गया, जहाँ स्वयं आपकी मनोवैज्ञानिक संतुष्टि के लिए दूसरे का इस्तेमाल समाप्त हो गया । हम कैसे काम करें महत्त्व इसका नहीं, इसका भी महत्त्व नहीं कि कौन-सी प्रणाली के ढाँचे का अनुसरण करें अथवा कौन-सा सिद्धान्त सर्वोत्तम है, वरन् महत्त्व की बात है दूसरे के साथ अपने सम्बन्ध की समझ एक मात्र क्रान्ति है यह समझ, विचारधारा पर आधारित क्रान्ति तो आदमी को साधन बनाये रखती है ।

चूँकि भीतरी स्थिति बाहरी स्थिति को नियंत्रित करती है, इस सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को समझे बिना, जो आप स्वयं हैं, चिन्तन का कोई भी आधार नहीं है । कोई भी विचार जो कर्म की एक प्रणाली, ढाँचा निर्मित करता है वह केवल अज्ञान और भ्रम को ही बढ़ाता जाएगा ।

मौलिक क्रान्ति केवल एक है । यह क्रान्ति कल्पना या कर्म के किसी पैटर्न पर आधारित नहीं है । यह क्रान्ति तब होती है जब दूसरे का इस्तेमाल करने की आवश्यकता समाप्त हो जाए । यह परिवर्तन कोई निर्गुण नहीं, वह ऐसी कोई चीज नहीं जिसकी हम कामना करें, वरन् यह यथार्थ है, जैसे ही हममें सम्बन्ध की समझ शुरू होती है, हम उसका अनुभव कर सकते हैं । इस मौलिक क्रान्ति को आप प्रेम कह सकते हैं । स्वयं हममें और इसलिए समाज में परिवर्तन लाने वाला सृजनात्मक तत्त्व बस यही है । ☐

फल से काम नहीं

पांच-छह साल पहले घर की चहारदीवारी के बाहर लगाये गये पौधे अब काफी बड़े होकर गृहस्वामी को छाया और ठंडक का सुख देने लगे हैं । इन सभी पर अब फल भी लग रहे हैं । एक दिन उनका पड़ोसी आया और कहने लगा— 'आपने जो बाहर पेड़ लगवाये हैं उसके सारे फल मोहल्ले के बच्चे तोड़-तोड़ कर खाने लगे हैं । आप इन्हें डांटिये नहीं तो पकने से पहले ही वह सारे फल खा जायेंगे और आपको एक भी न मिलेगा ।' गृहस्वामी निश्चिंत भाव से बैठे अखबार पढ़ते रहे और उन्होंने पड़ोसी से सिर्फ इतना पूछा— 'बच्चे फल ही तोड़ते हैं न ? पत्तियां वगैरह तो नहीं ।' पड़ोसी ने उत्तर दिया— 'नहीं, बच्चे समझदार हैं वे पेड़ों की टहनियों और पत्तों को नुकसान नहीं पहुँचाते ।' गृहस्वामी ने कहा— 'फिर कोई बात नहीं मैंने फलों की खातिर पेड़ नहीं लगाये । मुझे छाया मिलती रहे, बस !'

पड़ोसी मतलब समझ चुका था और यह सुनते ही शांत भाव से वापस लौट गया ।

कृष्ण का जीवन संगीत

कर्मयोग माने कर्म में यज्ञभावना

[३]

॥ श्री गुणवंत शाह ॥

कर्म से ही अधिकारी तूं

साँख्य की जानकारी देते समय दूसरे अध्याय में कृष्ण थोड़ी सी कर्म-मीमांसा कर लेते हैं । स्थूल भूमि से सूक्ष्म प्रदेश की अंतरिक्ष-यात्रा अर्जुन को प्रभावित करे ऐसी थी । गीता, भक्त और भगवान् की मैत्री का दिव्यगान है । ब्रह्मनिर्वाण तक की विचार-यात्रा के बाद वह थोड़ा चकरा जाता है और अकुलाकर भगवान् से कहता है—यदि आप कर्म की अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ गिनते हों तो मुझे इस माथापच्ची के झमेले में किसलिये ढकेलते हैं । मैं चकरा जाऊँ ऐसे गोलमोल (व्यामिश्र) वचनों के बदले जो कुछ हो उसे साफ-साफ बता दें । अर्जुन की ऐसी अकुलाहट इतना तो सिद्ध करती है कि वह कृष्ण की बातें आँख मूंदकर स्वीकार करने को तैयार नहीं है । याद रहे कि दूसरे अध्याय में कहीं भी कृष्ण ने कर्म की अपेक्षा ज्ञान अधिक श्रेष्ठ है ऐसा ठोक बजाकर नहीं कहा । इसके विपरीत, साँख्य की महिमा कहते हुए उन्होंने निष्काम कर्म की महिमा का वर्णन किया है । अर्जुन की शंका का निवारण करने हेतु कृष्ण इस अध्याय में विस्तार से कर्मयोग की महिमा वर्णित करते हैं ।

कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि देहधारी के लिये कर्म-विहीन रहना एक क्षण के लिये भी सम्भव नहीं है । प्रकृति के गुणों से बंधे सभी को कर्म तो करने ही पड़ते हैं । एक तरह से देखें तो अज्ञान-रूपी रोग से ग्रस्त हम सब प्रकृति के अस्पताल में रहने वाले (इन-डोर) मरीज हैं और कर्म का उपचार चल रहा है । स्थितप्रज्ञता सिद्ध हो तब अस्पताल से छुट्टी मिले ऐसी स्थिति है । इसी से रामकृष्ण परमहंस कहते हैं—'मन के कोने में गाँठ बाँध रखिये कि मानवमात्र का ध्येय परमात्मा में विलीन हो जाने का है । अतः कर्म करते रहें, कर्तव्य पालन करते रहें ।' कृष्ण तो और भी आगे बढ़कर कहते हैं—'कर्म करना छोड़ देने से 'नैष्कर्म्य' अपने आप सिद्ध नहीं होता ।' 'नैष्कर्म्य' शब्द समझने लायक है, नहीं तो गड़बड़ होने की सम्भावना है । रामकृष्ण परमहंस अकर्ताभाव को बहुत महत्त्व देते हैं । नैष्कर्म्य माने अकर्ताभाव । सब कुछ करते हुए भी 'मैं कुछ नहीं करता', यह भाव अकर्ताभाव है । कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि कर्म का त्याग कर देने से अकर्ताभाव पैदा होगा, इस बात में कोई तत्त्व नहीं है । तब करना क्या है ? जवाब यह है—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥

मन से इन्द्रियाँ नाथकर, आसक्ति बिन आचरे,
कर्मइन्द्रियों से कर्मयोग साधे, वह मनुज विशेष है ।

एक बार फिर इन्द्रिय-निग्रह के लिये मन के सहकार का महत्त्व यहाँ बताया है । मोटरगाड़ी में ऐक्सीलेटर दबाये रखकर कोई ब्रेक मारे तो ? वाष्प इंजिन का थ्राटल वाल्व खुला रखकर उसका चालक ब्रेक मारे तो ? कामवासना मन में से न जाय और ब्रह्मचर्य का निश्चय किया जाय तब अनेक मानसिक और शारीरिक दुर्घटनाएं उत्पन्न होती हैं । लोभ मन से न जाय और त्याग किया जाय तो वह लम्बी अवधि तक टिक नहीं सकता । भड़भड़ियापन मन से न जाय और मौन पाला जाय तब

मौन का सौन्दर्य समाप्त हो जाता है । इस तरह मन को संजोकर इन्द्रियों को वश में रक्खे और अनासक्तभाव से जो कर्म करे वह सच्चा कर्मयोगी है । गीताकार मन को मनोविज्ञान-शास्त्री दें इतना ही महत्त्व देती है ।

एक घर में आग लगी । घर के मालिक ने आग फैले नहीं इस उद्देश्य से सामने का दरवाजा बन्द करके बाहर से ताला मार दिया और आराम से बाहर जाकर बैठ गया । एक-दो घंटे बीतने के बाद समूचा द्वार सुलग उठा, ताला अपने स्थान पर लगा रहा और द्वार गिर पड़ा । घर हमारा मन है । आसक्ति (किरायेदार) घर खाली करे नहीं तब तक घर का मालिक लाचार है । घर का मालिक है हमारा 'आत्मभाव' । अपने मन में से आसक्ति को निकाल भगाना है । आसक्ति-विहीन कर्म का अर्थ है—कर्म-योग । इसी से दूसरे अध्याय में कृष्ण ने अर्जुन से ठोंक बजाकर कहा—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'

'कर्म का ही अधिकारी तुं, कभी भी फल का नहीं'

कर्म को कर्मयोग का दर्जा कब मिलता है ?

हमारे जैसे सामान्य लोगों के पास कर्म के साथ मेल करने के दो रास्ते हैं—

१. कर्म को तुच्छ मानकर उसे फालतू काम के दर्जे में ला रखना ।

२. कर्म में हृदय उड़ेलकर, बिना लाग-लपेट के उसे कर्मयोग के दर्जे तक ले जाना ।

पहला रास्ता पीड़ा-कारक है, पतन-कारक है और उसमें मनुष्यता का अवमूल्यन है । इस रास्ते पर चल कर आदमी तेली के बैल की कक्षा में आ बैठता है । दूसरा रास्ता आदमी को शोभा दे ऐसा है और इसमें बोझ के सिवा कुछ भी खोना नहीं है । बोझ कर्म का नहीं होता, फल की कामना का होता है । दूसरे रास्ते पर आदमी को कर्मयोगी का दर्जा प्राप्त होता है । इस बारे में निम्नांकित नियमों को समझ लें—

जहाँ संग नहीं, वहाँ स्वार्थ नहीं ।

जहाँ स्वार्थ नहीं वहाँ कर्मफल की चिन्ता नहीं ।

जहाँ कर्मफल की चिन्ता नहीं, वहाँ कर्म माने कर्मयोग !

इस प्रकार तेली के बैल और कर्मयोग को जोड़ने वाली सातत्य रेखा (काण्टिन्युअम) पर हम खड़े हैं यह समझ लेना है । हम भले ही कहीं भी खड़े हों पर मुद्दे की बात हमारी दिशा-लक्षिता (डाइरेक्शनालिटी) का है । हमारा मुँह और गति कर्मयोग की ओर की हो तो समझ लेना चाहिए कि आधी लड़ाई जीत ली गयी ।

जो केवल हाथ-पैर की मदद ले वह काम करनेवाला, हाथ-पैर के साथ-साथ मस्तिष्क से भी काम ले वह कारीगर और मस्तिष्क के साथ काम में हृदय भी लगाये वह कलाकार कहलाता है । पिकासो कहता है प्रत्येक बालक जन्मना कलाकार होता है । यह मान्यता पुरानी होने के कारण संकीर्ण होने के बावजूद टिकी रही है । लोग सामान्यतः मानते हैं कि कलाकार केवल चित्रांकन और शिल्प जैसी ललितकलाओं के क्षेत्र में या संगीत और नाटक के क्षेत्र में हो सकते हैं । 'कला' का यह बहुत संकीर्ण अर्थ है । रवीन्द्रनाथ और गाँधीजी की जीवन-दृष्टि में अन्तर था । रवीन्द्रनाथ के मत से कला ही जीवन है, गाँधीजी के मतानुसार जीवन ही एक कला है । इस प्रकार कला का सम्बन्ध जीवन को व्यापकता से जोड़ने का है । गोबर लीपने की लहरियाँ आँखों में बस जायं इतने सुन्दर ढंग से आलेपन करने वाली अपढ़ स्त्री को कोई कलाकार नहीं कहता । ऐसा बढ़ई हो सकता है जिसने बढ़ई-गिरी को कला के दर्जे तक पहुँचा दिया हो । बढ़ियाँ रसोई बनानेवाली माँ को कोई कलाकार नहीं कहता । सूरत में एक दर्जी सिर्फ कुर्ता ही सीता है, पर वे इतने सुन्दर होते हैं कि ग्राहकों को अपनी पारी आने के लिये तीन महीने इन्तजार करना पड़ता है ।

नानाभाई भट्ट ने कहीं एक रंगरेज की बात की है । अपनी पत्नी के लिए वह एक चुनरी रंगता है । नगर सेठ को वह चुनरी पसंद आ जाती है । नगर सेठ उस रंगरेज से कहता है—'ठीक ऐसे ही रंग की चुनरी तू मेरी पत्नी के लिये तैयार कर दे ।' रंगरेज ऐसा ही करता है । जब नगर सेठ चुनरी देखता है तो कहता है—'भाई, ये चुनरी है तो अच्छी पर उसवाली जैसा रंग नहीं चढ़ा है ।' रंगरेज कहता है—'सेठ, इतना अन्तर तो रहेगा ही, क्योंकि उस चुनरी पर तो मेरे दिल का रंग चढ़ा था !'

हमारे समस्त कर्मों पर जब हृदय की भावना का रंग चढ़ जाय तब समझना चाहिए कि कर्म को कला का दर्जा प्राप्त हो गया है । फिर जब कला की कक्षा तक पहुँचे हुए कर्म-फल की आकांक्षा शेष हो जाती है, तब कर्मयोग सिद्ध होता है । इसी से कृष्ण कहते हैं—'मुक्तसंगः समाचर' अर्थात् 'हे अर्जुन तू आसक्ति छोड़कर यज्ञार्थ कर्म कर ।'

भारतीय संस्कृति का पिण्ड दो परम्पराओं से बंधा है—एक ब्राह्मण परम्परा और दूसरी श्रमण परम्परा । ब्राह्मण (वैदिक) परम्परा यज्ञप्रधान थी जबकि श्रमण परम्परा त्याग-प्रधान थी । इस तरह यज्ञ और त्याग के पायों पर हमारी संस्कृति टिकी रही है । यज्ञ की संकल्पना वैदिक परम्परा का श्रेष्ठ उत्पाद है । सृष्टि में यज्ञ का स्थान क्या है ? यज्ञ-भावना माने क्या है ? कर्म और यज्ञ के बीच क्या सम्बन्ध है ? गीता में कर्मयोग की छानबीन यज्ञ-भावना के साथ हुई है ।

यज्ञ ही विष्णु है

ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की त्रिमूर्ति के अनुक्रम से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और संहार की प्रक्रिया के साथ जोड़ा गया है । सृष्टि की समस्त सर्जनात्मक शक्तियों का प्रतीक माने ब्रह्मा, इस प्रकार सृष्टि के धारण, पोषण और पालन करनेवाली शक्तियों का दिव्यसंकेत माने 'विष्णु' । सृष्टि की समस्त विध्वंसक शक्तियों का मूर्तिमंत स्वरूप माने 'महेश्वर'। सृष्टि की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी शक्तियों के मामले में आदमी एकदम लाचार है, इसी प्रकार सृष्टि के प्रलय की बाबत भी उसे कुछ करना नहीं होता । उत्पत्ति और प्रलय के बीच की स्थिति के बारे में उसका जो कर्तव्य है, वह उसे निभाना चाहिए । हमारे जीवन के दरमियान सृष्टि में कहीं न कहीं, नजर न आये ऐसे अनेक आघात लगते रहते हैं । हमारे प्रति हुए ऐसे आघातों के समक्ष ऋणमुक्ति के भावसहित निःस्वार्थ भाव से और समग्र मानव-जाति के कल्याण के उद्देश्य से हम जो कर्म करते हैं उसे यज्ञ कहा जाता है । अन्न का एक कौर हमारे मुँह तक आवे इसके लिए एक या अनेक आदमी उत्तरदायी होते हैं । हमारा जीवन बाहर से दिखता है ऐसा अलग-थलग (अलिप्त) नहीं होता । किसी अकल-चेतना की ताँत से सभी जीव जुड़े हैं । सृष्टि पर जीवन टिका रहे इसके लिये प्रकृति द्वारा सृजित व्यवस्था में हमारे कारण कम से कम व्यवधान पहुँचे और हमारे द्वारा जो व्यवधान पहुँचे उसका हानिलाभ लौटा देने की भावना ही यज्ञ-भावना है । पूज्य रविशंकर महाराज जैसे संत सरल भाषा में हमसे कहते हैं कि यज्ञ माने खप जाना है । सृष्टि की सुरक्षा यज्ञ बिना नहीं हो सकती । इसी से वेद कहते हैं—

'यज्ञो वै विष्णुः ।'

श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में यज्ञ की विभावना का अत्यंत मौलिक निरूपण हुआ है । शंकराचार्य 'सांख्यबुद्धि' तथा 'योगबुद्धि' जैसे दो शब्द प्रयुक्त करके गीता द्वारा प्रबोधित दो मूलभूत निष्ठाओं की विवेचना करते हैं । ज्ञानयोग से रससिक्त सांख्यनिष्ठा और कर्मयोग से रससिक्त योगनिष्ठा की बात करने के बाद गीता कर्म और यज्ञ को इस प्रकार जोड़ती है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचरः ।।
बिना यज्ञार्थ कर्मों से इस लोक में कर्मबंधन हैं,
अस्तु आसक्ति छोड़, यज्ञार्थ कर्म कर ।

इस प्रकार यज्ञार्थ अर्थात् प्रभुप्रीत्यर्थ किये गये कर्मों के अलावा दूसरे सभी कर्म आदमी को बाँधने वाले माने

गये हैं । कर्म तो करने ही पड़ते हैं यह निश्चित है तो फिर कर्म करें और उससे सम्बन्ध न रहे इसका उपाय क्या है ? पहले कहा उसी प्रकार गाँधीजी ने कहा—'कर्म छोड़े तो गिरे, कर्म करते हुए फल छोड़े तो चढ़े ।' आदमी का जीवन यज्ञमय हो तो यह सृष्टि जिन-जिन नियमों पर टिकी है, उनके बल पर कामधेनु जैसी, इच्छित फल देनेवाली बनी रहेगी । हमारी स्वार्थ-बुद्धि से सृष्टि का सहज, स्वयंसिद्ध और कल्याणकारी कार्यक्रम स्खलित होता है, निःस्वार्थ भाव से जो कर्म होता है उसमें सृष्टि का उपक्रम नष्ट नहीं होता, इससे दीर्घावधि में लाभ ही होता है । इस प्रकार स्वार्थ-बुद्धि से होता कर्म दीर्घ-अवधि में घाटे का सौदा साबित होता है । गीता कहती है—'जो अपने स्वार्थ के लिए ही रसोई बनाते हैं वे पाप के भागी बनते हैं । कर्मों के साथ काम करने का एक मात्र उत्तम मार्ग यही है कि सभी कर्म यज्ञार्थ करें । कोई कम्पनी घाटे में जाय तो उसमें भागीदारों को ही हानि उठानी पड़ती है । सभी भागीदार कम्पनी के विशालहित को ध्यान में रखकर वर्तन करें तो अन्त में प्रत्येक भागीदार को लाभ ही होगा । जंगलों का विनाश हो तो कुदरत का सन्तुलन बिगड़ता है और पृथ्वी पर का सहज जीवन घाटे में जाता है । इसी से अकाल, सूखा और बाढ़ के संकट झेलने पड़ते हैं । प्रदूषण आदमी की स्वार्थ बुद्धि का, अल्पलाभ के हिसाब का परिणाम है । यज्ञ द्वारा ब्रह्माण्ड (कॉस्मॉस) की लय संरक्षित रहती है । इस ब्रह्माण्ड की सुरक्षा ही सच्ची विष्णुपूजा है और यही है यज्ञकर्म ।

अभिप्रेरणा की तीन कक्षाएं

व्यष्टि तथा समष्टि के बीच व्यवहारों में जो अभिप्रेरणा दिखती है उसकी तीन कक्षाएं बनायी जा सकती हैं । प्रथम कक्षा में डार्विन द्वारा स्थापित सिद्धान्त 'बलवान की अस्मिता' से उत्पन्न चढ़ा-ऊपरी और स्पर्धा देखी जा सकती है । इस कक्षा में 'संसार में बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है' ऐसा मत्स्य-न्याय प्रवर्तित है । सांसारिक कक्षा में से ऐसे मत्स्यन्याय में से युद्ध, शोषण, साम्राज्यवाद और गरीबी जन्म लेते हैं । दुनियाँ की छः प्रतिशत आबादी धारण करता अमेरिका पृथ्वी की कुल ऊर्जा का ३६ प्रतिशत हिस्सा इस्तेमाल कर डालता है । इस कक्षा में शक्ति के समीकरण स्थापित होते हैं । इससे औचित्य या समष्टि का विशाल हित बिसरा दिया जाता है । झोपड़पट्टियों में एक दादा ऐसा खर दिमाग होता है कि सब त्रस्त रहते हैं । गलाकाट प्रतिद्वंद्विता के कारण तीसरे विश्व के देशों का दम निकला जाता है । एस० टी०, डीपो में बस में चढ़ने के लिये जो धमाचौकड़ी नजर आती है, उसमें डार्विन की बात को समर्थन प्राप्त होता है । इस कक्षा में व्यवहार की संयोजना करनेवाला समाज कभी सुखी नहीं हो सकता ।

मानव व्यवहार की अभिप्रेरणा की दूसरी कक्षा में स्पर्धा के बदले सहकार का अधिक महत्त्व होता है । इस कक्षा में 'जियो और जीने दो' (लिव एण्ड लेट लिव) का सिद्धान्त काम करता है । मैं अपने पड़ोसी को निभाऊँ और मेरा पड़ोसी मुझे निभाये ऐसे व्यवहार में सीधी-सादी सज्जनता है । यह कक्षा पहली स्पर्धात्मक कक्षा से श्रेष्ठतर है यह सही है, पर बात इतने पर ही शेष हो जाय ऐसा नहीं माना जा सकता । माँ कहे कि 'मैं जीती हूँ और अपने बच्चे को जीने देती हूँ', कोई बालक इस प्रकार बड़ा होता है क्या ? ऐसा ही डाक्टर, शिक्षक, सैनिक और सरकारी कर्मचारी कहें और रुक जायं तो ? माँ बालक का पालन करने के लिये, डाक्टर रोगी को अच्छा करने के लिये, शिक्षक छात्र को पढ़ाने के लिए और सैनिक लोगों की रक्षा करने के लिए जीते हैं और इसी से समाज टिका है । सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इस कक्षा में देखने को मिलती सीधी सादी सज्जनता में भी थोड़ी सी स्वार्थबुद्धि बनी रह जाती है ।

अभिप्रेरणा की तीसरी कक्षा में निःस्वार्थभाव से आप्लावित हो खप जाना, दूसरे के लिये कुछ कर गुजरने की वृत्ति दिखाई पड़ती है । इस कक्षा में जीवन यज्ञ बनकर सार्थक बन जाता है । जिलाने के लिये जीने का (लिव टु लेट लिव) उपक्रम ही यज्ञ है । विद्या देनेवाले

की विद्या देने से घटती नहीं, बढ़ती है । माँ बच्चे को स्तनपान कराती है और गहरा संतोष प्राप्त करती है । महाजन दान करते हैं और शान्ति सलामती, आदर और समृद्धि प्राप्त करते हैं । सरकारी कर्मचारी कोई भी अच्छा काम करने के बदले यदि कुछ नहीं पाते तो मन की प्रसन्नता तो प्राप्त करते ही हैं । डाक्टर जब रोगी को जिलाने का प्रयास करते हैं तो अंदरूनी संतोष प्राप्त करते हैं । कुएं का पानी खेत में डालो तो कुआं खाली नहीं हो जाता । जहाँ-जहाँ ऐसा यज्ञ-कर्म होता है वहाँ दिव्यता का आविर्भाव होता है । जगत को संरक्षित रखनेवाली ब्रह्माण्ड (कॉस्मॉस) की दृश्य-अदृश्य शक्तियाँ ही हमारी देवता हैं । अग्नि में होम करने के बदले में अग्नि ही मिलती है । प्रभु को समर्पित हुए कर्म हमें प्रभुमय बना सकते हैं । यज्ञ का हृदय ऐसी प्रभुमयता में निहित है । ऐसा यज्ञ ही विष्णु है । रामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि 'आप भगवान् को समर्पणभाव से जो देते हैं उसका अनेक गुना गुणित होकर वापस मिलता है । अस्तु उसे कुछ भी खराब अर्पित न करें इसका ध्यान रहे ।'

पाँच प्रकार के यज्ञ

हमारे यहाँ पाँच प्रकार के यज्ञों की महिमा बताई गयी है । आधुनिक संदर्भ में आइये इन पाँचों को संक्षेप में समझ लें ।

१. ब्रह्म-यज्ञ—इस यज्ञ का सम्बन्ध वेद से है । ब्रह्म का एक अर्थ है 'वेद' । वेदों में अप्रदूषित मनुष्यत्व का आदि-उद्गार संचित हुआ है । ब्रह्म का अर्थ 'ऊँकार' भी होता है । मानव-जाति के विचार का जो उद्‌बोध प्राप्त हुआ है, वेद उसका उद्‌घोष है । नये-नये कल्याणकारी उच्च और मानवकेन्द्री विचारों का सेवन ही ब्रह्मयज्ञ है । संसार टिकता है उम्दा विचारों के सेवन और संवर्धन से । मानव की विचार-यात्रा का प्रस्थान हुआ वेद द्वारा और यह यात्रा आगे चलती रखनी है—वही है ब्रह्मयज्ञ ।

२. देव-यज्ञ—देव माने 'द्युति', 'कान्ति', 'विजिगीषा', 'व्यवहार', 'मद' और 'मोह' । आदमी की प्रतिभा बढ़नी चाहिए, उसका नूर बढ़ना चाहिए । उसे विजय की आकांक्षा होनी चाहिये । रोग, अज्ञान, आलस्य, दुर्बलता और भय पर उसे विजय प्राप्त करना चाहिए । उसे अंधकार पर विजय प्राप्त करके ज्ञान का प्रकाश पाने की चेष्टा करनी चाहिए । उसे आनन्द (मोद) के लिये मंथन करना चाहिये । मद माने 'गर्व' । शक्ति होगी तो गर्व होगा, और यदि गर्व हो तो उसे छोड़ा भी जा सकता है । ध्येय प्राप्त करने के मंथन से जो तेज प्रगट होता है वही दिव्यता है । देवयज्ञ माने अपनी प्रतिभा टिकी रहे, और बढ़े, इसकी चेष्टा ।

३. पितृ-यज्ञ—माता-पिता की ओर से मिली योग्यकुल परम्पराओं का संगोपन संवर्धन ही है पितृ-यज्ञ । कोई व्यापारी प्रामाणिकता की परम्परा छोड़ जाय और उसके पुत्र उस परम्परा को बचा रक्खें और अधिक उज्जवल बनायें तो यह हुआ पितृ-यज्ञ । पिता विद्वान् हो और उसकी संतति उसे सवाया कर दिखाये तो वह हुआ पितृ-यज्ञ । विरासत में मिली झूठी परम्पराओं का त्याग भी पितृयज्ञ माना जाना चाहिए । प्रह्लाद हिरण्यकश्यप की परम्परा तोड़े तो वह भी पितृयज्ञ ही माना जाना चाहिए ।

४. भूत-यज्ञ—सदियों से यज्ञ के साथ हिंसा, बलि और वध जुड़ गये हैं । अब यज्ञ के साथ अहिंसा, करुणा, शान्ति और प्रेम जोड़ना बाकी है । वेद सभी प्राणियों को 'मित्रस्य चक्षुषा' से देखने की बात कहते हैं । गाँधीजी ने गाय को 'करुणा का काव्य' (पोयम ऑफ पिटी) कहा है । अलबर्ट श्वाइट्ज़र 'जीवमात्र के लिए आदर' की बात कहते हैं । प्रत्येक जीव के प्रति करुणा का भाव हो और अहिंसा का व्यवहार हो तो वह हुआ भूत-यज्ञ । प्राणियों की बड़े पैमाने पर होती हत्या ब्रह्माण्ड की लय तोड़ने वाली साबित हुई है । हमारे यहाँ साँप को भी क्षेत्रपाल (खेत-पाल) कहकर सम्मानित किया है । सन्तुलन-शास्त्र (इकोलॉजी) का ह्रास हो तो अनेक समस्याएं पैदा होती हैं । इकोलॉजी शब्द मूलतः यूनानी 'ओइकस', संस्कृत 'ओकस' से निसृत हुआ है, जिसका

अर्थ है 'कुटुंब के सम्बन्ध' । संक्षेप में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना ही सच्चा भूत-यज्ञ है ।

५. मनुष्य-यज्ञ—इस संसार में मानव से श्रेष्ठ कोई दूसरा सत्य हो सकता है क्या ? इसी से तो चण्डीदास ने कहा—'सबार ऊपर मानुष सत्य', मानव का गौरव नष्ट हो तो सब कुछ ही छिन जाता है । उसे चेष्टा करनी चाहिए कि यह गौरव बढ़े; यह हुआ मनुष्य-यज्ञ । आज के विकास की त्वरित दौड़ में, औद्योगिक समाजों की चूहा-दौड़ (रैट-रेस) में और नगर जीवन की भीड़ में आदमी खोता जा रहा है । उसका गौरव लुप्त होता है तब सम्बन्ध-विच्छेद (एलिनियेशन) के कारण उसका असली चेहरा लुप्त हो जाता है । मनोविज्ञानी इसे 'पहिचान का संकट' (आईडेण्टिटी क्राइसिस) कहते हैं । अपने असली 'स्व' से छूटा हुआ मनुष्य उतावला बनता जाता है । मानवता की रक्षा के लिये ऐसी संकटावस्था तनिक भी वांछनीय नहीं है । समाज में मानव को केन्द्रीयता (सेण्ट्रालिटी) प्राप्त हो, ऐसा करना और मानवीय गौरव सुरक्षित रहे ऐसे काम करना ही है—मनुष्य-यज्ञ ।

इकोलॉजी और यज्ञ-चक्र

मानव यज्ञकार्य के बाद जो भोजन करता है वह 'यज्ञशिष्ट' है अर्थात् यज्ञ का बचा भोजन, 'प्रसाद' की कक्षा प्राप्त करता है । गीता जिसे 'शरीर-यात्रा' कहती है वह तो चलती ही रहती है, परन्तु यज्ञकर्म के अन्त में प्राप्त हुआ भोजन (बाइबिल जिसे ब्रेड-लेबर कहती है) स्वयं यज्ञकर्म बन जाता है । शरीर की सुरक्षा अन्न-ब्रह्म द्वारा होती है । तुकाराम कहते हैं—

मुख में कण डालते
नाम लेना हरि का
सहज हवन होगा
नाम लेकर प्रभु का
जीवन सजीवन करता ।

गुजराती से अनुवाद : *डॉ० भानुशंकर मेहता*

आत्मा ही प्रकाश है

ऋषि याज्ञवल्क्य व राजा जनक के बीच प्रश्नोत्तर हुआ । याज्ञवल्क्य जनक के दरबार में गये थे । परम ज्ञानवान याज्ञवल्क्य का सत्कार करने के बाद दोनों असामान्य प्रकांड विद्वानों के बीच जो वार्तालाप हुआ वह असाधारण प्रश्न का असाधारण उत्तर प्रस्तुत करता है ।

जनक : 'मनुष्य को प्रकाश कहां से मिलता है ?'

याज्ञवल्क्य : 'सूर्य की ज्योति से ।'

जनक : 'परन्तु सूर्य जब सायंकाल को अस्त हो जाता है तब पृथ्वी के जीव कहां से प्रकाश पाते हैं ?'

याज्ञवल्क्य : 'चन्द्रमा की ज्योति से महाराज ।'

जनक : 'और जब चन्द्रमा नहीं होता, तब की बात बताइये कि ज्योति का स्रोत क्या है ?'

याज्ञवल्क्य : वाक् के प्रकाश की सहायता से मानव उठता-बैठता, घूमता और कार्य करता है । यद्यपि उसे हाथ को हाथ नहीं सूझता, उसके बावजूद वह वाक् को सुनकर, उसी ओर अग्रसर होता है ।

जनक : किन्तु जब सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि नहीं रहते और चारों ओर स्तब्धता छाई होती है तब उस ज्योति का नाम बताइये जो वहां विद्यमान रहती है ?

याज्ञवल्क्य : उस समय आत्मा ही वह ज्योति है । इसी के आत्म-चेतना-रूपी प्रकाश में मानव उठता है, बैठता है, विचरता है और अपना कार्य संपन्न करता है ।

—बृहदारण्यकोपनिषद् से

राधा का आविर्भाव

श्री विद्यानिवास मिश्र

वृन्दावन में जाते ही लगता है श्रीकृष्ण कहीं हिरा गये हैं, सब लोग 'राधे' 'राधे' कहते हुए अभिवादन करते हैं, श्रीकृष्ण का नाम कोई लेता नहीं । कुछ भक्त चिढ़ते भी हैं—यदि कोई श्रीकृष्ण का नाम ले ले, कहते हैं—किस कढ़ी चोर का नाम लिया । श्रीकृष्ण इस तरह श्रीराधा में जैसे समा गये हों । इसका कारण क्या है ? कारणों के बारे में कई मिथक रचे गये, श्रीकृष्ण तो आद्या शक्ति के रूप हैं, कोई पुराण कहता है, काली ही ने प्रार्थना की शिव से, मैं तुम्हें पुरुष होकर प्यार करना चाहती हूँ, शिव ने कहा, एवमस्तु ! पर तुम पुरुष बन कर तमाम लोगों का मोह-भंग करोगी । आसुरी वृत्तियों का दर्प-दलन करोगी, सब कुछ होगा, पर तुम्हें मेरा सामीप्य नहीं मिलेगा । दूसरा पुराण कहता है—ललिता त्रिपुर सुन्दरी श्रीकृष्ण के रूप में अवतीर्ण हुईं, ताकि शिव राधा के रूप में अवतीर्ण होने के लिए विवश हों और मैं उन्हें इस रूप में नचाऊं, पर होता है उल्टा, राधा ही के नयनों के संकेत पर श्रीकृष्ण नाचते हैं, राधा की ही टेर वंशी पर लगाते हैं । एक अन्य पुराण के अनुसार श्रीराधा सीता की उस स्वर्णप्रतिमा-सी रूपान्तरित होकर विराजमान होती हैं, जिसको श्रीराम ने एक साथ वरदान और अभिशाप दिया—वरदान दिया कि तुम मुझसे क्षणमात्र के लिए भी अलग न होगी और शाप दिया—तुम साथ रहती हुई भी क्षण-क्षण में दुसह वियोग का ही अनुभव करोगी ।

इन सब आख्यानों में अपना एक अलग आस्वाद है । ये विश्वात्मा के अतर्कित विलास की व्याख्यायें हैं । मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है कि श्रीराधा का आविर्भाव नारी देह, नारी मन और नारी स्वभाव को अतिशय महत्त्व देने के लिए है । जब श्री शंकराचार्य ने प्रपंचसार में (उन्हीं ने जिनके बारे में कहा जाता है कि वे नारी को नरक का द्वार मानते हैं) कहा कि नारी चित्त में ही शुद्ध चैतन्य शीघ्र खिलता है और पूरा का पूरा खिलता है, ऐसा खिलता है कि उसके पराग से फिर नयी सृष्टि भी शुरू हो जाती है । तब उनका भी अभिप्राय यही था कि नारी में सर्जन की क्षमता है । परन्तु श्रीराधा तो केवल प्रियाजी हैं, वे प्रियतम में या प्रियतम उनमें । वे शुद्ध प्यार की प्रतिमा हैं, श्रीराधा की देह शुद्ध भाव है । प्रकाश का विसरण है, ऐसा विसरण है जो प्रकाश के केन्द्र की सघनता को आच्छन्न कर लेता है, वे तो या होती नहीं, उन पर श्री शंकराचार्य की बात कहाँ लागू होगी ! इसका समाधान संभवतः यह हो कि श्रीराधा में भी सर्जनात्मक भाव है, इस रूप में है कि उनका चित्त भावों की अनन्त सम्भावनाओं का हमेशा व्याकुल रहने वाला महासागर है । वे विद्यापति के अनुसार माधव का स्मरण करते-करते माधव और माधव रूप में राधा का स्मरण करते-करते राधा और उस स्थिति में अपने से ही राधा से ही विछोह का तीव्र अनुभव करते-करते और अधिक व्याकुल, महाभाव रचती जाती हैं । वह महाभाव कभी एक-सा नहीं रहता, उसमें एक विवर्त्त दूसरे विशिष्टतर विवर्त्त को जन्म देता है । श्रीराधा के महाभाव ने ही वैष्णवभक्ति को इतना सजीव और इतना सामान्य से सामान्य जन को ग्राह्य बनाया । काव्य-कला-संगीत में इस महाभाव से सनातन संचारी रूपायित हुए । वृन्दावन में श्री बाँके बिहारी के विग्रह में राधा और कृष्ण रूप में विभक्त चित्त एक दूसरे की ओर खिंचे नाचते रहे, नाचते रहे, नाचते-नाचते एक हो गये । इसी कारण उस विग्रह

में दोनों छवियाँ कभी न कभी अलग झलक जाती हैं। उस छवि में ऐसा अपूर्व सौन्दर्य है कि अर्चकों को लगता है, यह सौन्दर्य उन्मथित कर देगा, विग्रह के आगे वे पर्दा डाल देते हैं।

सूरदास के बारे में सामान्य धारणा अवश्य बन गयी है कि वे वात्सल्य के कवि हैं, पर जब हम उनकी पदावली को गीति प्रबन्ध के रूप में देखने का थोड़ा-सा भी यत्न करते हैं तो स्पष्ट होने लगता है, यह एक अपूर्व प्रेमव्यापार का निबन्धन है, एक-एक पद में इसी व्यापार का कोई न कोई पक्ष प्रस्तुत है। अलग-अलग भी प्रस्तुत होता है और एक दूसरे से गुम्फित भी चलता है। लीलायें किसी निश्चित क्रम से घटित होती हैं। गोवर्धनधारण की लीला के बाद ही रासलीला का आना इस अभिप्राय का द्योतक है कि रासलीला रची ही तब गयी, जब श्रीकृष्ण समस्त वृन्दावन के प्राण बनकर अधिष्ठित हो चुके थे, उनका पराक्रम, उनके सौन्दर्य के साथ समाहित हो चुका था, वे ब्रज के जीवन के केन्द्र बन चुके थे। ऐसे के साथ नाचना विश्व की आत्मा के साथ नाचना है और विश्व को नृत्य का वृत्त बना के आनन्दमय कर देना है। इसीलिए उस रास के केन्द्र में युगलमूर्ति हैं। रास में श्रीकृष्ण अपने को प्रत्येक गोपी के साथ अलग-अलग श्रीकृष्ण बना देते हैं, पर राधा केवल एक ही रहती हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण तो चैतन्य की प्रस्फुटित शक्तियों के समूह हैं और श्रीराधा चैतन्य ही चैतन्य हैं, शिव ही शिव हैं। श्रीकृष्ण अलग-अलग स्थानों में, अलग-अलग चित्रों में, अलग-अलग होकर विराजना चाहे, विराजें, पर श्रीराधा मुस्कराती हुई, अर्धनिर्मीलित नेत्रों से श्रीकृष्ण को निहारती हुई और उन्हें निहाल करती हुई एक स्थान पर विराजमान बनी रहती हैं, क्योंकि वे जानती हैं, श्रीकृष्ण कहीं रहें, कहीं जायें, उनका ध्यान यहीं रहेगा, अहर्निश उनका हृदय यहीं रहेगा।

श्रीकृष्ण कितनी लीलाएं रचते हैं, पश्चिम से पूर्व दिगन्त मथ कर रख देते हैं। कैसे-कैसे राजनीतिक शक्तियों के बीच सन्तुलन स्थापित करते हैं, कैसे केन्द्र की ओर अभिमुख शक्तियों को युधिष्ठिर के साथ जोड़कर एक ऐसे भारत का निर्माण करते हैं, कैसे गणराज्य के अद्भुत प्रयोग यादव संघ के दुर्मद को देखते हुए उस संघ का पूर्ण रूप से विघटन करके अकेले पड़ जाते हैं, इस सबके बीच इतने संपृक्त होते हुए जो असंपृक्त रहते हैं, उसका कारण भी यही है कि वे तो श्रीराधा में है, एकदम अपूर्व आह्लादशक्ति से आप्लावित। श्रीराधा वृन्दावन में बैठी-बैठी श्रीकृष्ण को न केवल निरखती रहती हैं, बल्कि क्षण-क्षण अपने को उनकी विविध भूमिकाओं में डालकर या गोपियों को श्रीकृष्ण की विविध भूमिका में डालकर श्रीकृष्ण पर रीझती रहती हैं, उन पर खीझ उतारती रहती हैं। उनसे रूठती हैं, उनसे मनती हैं, उन्हें भी कभी-कभी उनके उन्मन होने पर मनाती हैं। वह कहीं नहीं जातीं, पर श्रीकृष्ण जहाँ-जहाँ घूम रहे हैं, उनके भीतर उपस्थित हो जाती हैं। वे इसीलिए वृन्दावन में खोयी-खोयी रहती हैं, 'लाड़ली' कहाँ खो गयी हो कन्हैया में, वृन्दावन तुम्हें अब भी पुकार रहा है। वह बार-बार अपने में खोने वाली रसमयी मूर्ति बार-बार आविर्भूत होती रहती है। इसीलिए उनके बारे में भारतीय मन जब सोचता है तो नाना प्रकार की मातृ मूर्तियों से अलग रख के सोचता है। वे श्रीकृष्ण तक परमात्मा तक पहुँचने के लिए सोपान नहीं, हाँ, श्रीकृष्ण अवश्य श्रीराधा की कृपा दिलाने के लिए सोपान हैं।

श्रीकृष्ण रस में डूबे हुए लोग भी सिहर उठते हैं, जब उन्हें श्रीराधा के बारे में कुछ कहना होता है। परमहंस शुकदेव के बारे में तो पद्मपुराण में कहा गया है कि श्रीमद्भागवत की कथा सुनाते समय श्रीराधा का साक्षात् नाम उन्होंने इसलिए नहीं लिया कि श्रीराधा का नाम लेते ही छह महीने की समाधि लग जाती, कथा रुक जाती और कथा सात दिनों में ही समाप्त होने वाली थी। गौरांग महाप्रभु श्री चैतन्य राधा का नाम लेते ही विह्वल हो उठते थे। श्री जयदेव ने राधा को ही केन्द्र में रखकर गीतगोविन्द रचा और अपने नाट्य प्रबंध में राधा को श्रीकृष्ण के हाथों श्रीकृष्ण से ही सजा कर सम्पन्न किया।

श्रीकृष्ण श्रीराधा की आँखों में आँखें, कस्तूरी तिलक के रूप में भाल में सजे । श्रीराधा का यह आविर्भाव भारतीय साहित्य में बस गया है । इसी को काँगड़ा कलम में वास-परिवर्तन के अभिप्राय के द्वारा अंकित किया गया है कि श्रीकृष्ण राधा बने हैं, श्रीराधा का वेशविन्यास ग्रहण करके और श्रीराधा कृष्ण के परिधान, बाँसुरी और मोरमुकुट धारण करके कृष्ण बनी हैं, पर राधा से कृष्ण का त्रिभंग नहीं बन पड़ा, श्रीकृष्ण का बाँकपन सूधी-सादी राधा से कैसे सधता । राधा निश्छल प्यार की सिधाई हैं, प्यार की तपस्या हैं, प्यार की उपासना हैं, उनका आविर्भाव हुआ है, जितने भी दुराव हैं, छल हैं, कपट हैं, बनावट के भाव हैं, सबको सहजता देना । पुरुष सदा से ही कपटी रहा, पुरुष विग्रह में शक्ति भी छलिया हो जाती है, उसको दूर करने के लिए ही सदाशिव ने राधाविग्रह के रूप में अवतार लिया । बरसाने का पर्वत भी शिव है, बरसाने की चप्पा भूमि भी शिव है और बरसाने की राधा भी शिव हैं, बल्कि ठीक कहें शिव का नया संस्कार हैं, पुरुष चित्त का परिष्कार हैं । आज का युग इस परिष्कार के अनुग्रह से ही तमाम विखंडनकारी, हिंस्र, असहज, अमानुष और आत्मनाशी विपदाओं से उबर सकता है । श्रीराधा का आविर्भाव देशकाल के चौखटे से बाहर हो रहा है और यह विश्व के लिए शुभ संकेत है । ☐

अक्षर अनन्य

ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि अक्षर अनन्य कुछ दिनों तक दतिया के राजा पृथ्वीचंद के दीवान थे । बाद में ये विरक्त होकर पन्ना में रहने लगे । प्रसिद्ध छत्रसाल इनके शिष्य हुए । एक बार ये छत्रसाल से अप्रसन्न होकर जंगल में चले गये । पता लगने पर महाराज छत्रसाल जब क्षमा-प्रार्थना के लिए इनके पास गये तब उन्होंने अक्षर अनन्य को झाड़ी के पास, पैर फैलाकर लेटे हुए पाया । महाराज छत्रसाल ने पूछा— 'पांव पसारा कब से ?'

'हाथ समेटा जब से'—अक्षर अनन्य ने उत्तर दिया ।

रवीन्द्रनाथ टैगोर अपने कमरे में बैठे कविता लिखने में व्यस्त थे कि इतने में एक छुरा लिए हुए गुन्डे ने उनके कमरे में प्रवेश किया । उसे किराये पर हत्या करने के लिए किसी ईर्ष्यालु ने भेजा था ।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने आँखें उठा कर उसकी तरफ देखा । सारा मामला भाँप लिया । उन्होंने उंगली का इशारा करके शान्त भाव से, चुप-चाप एक कोने में पड़े स्टूल पर बैठ जाने को कहा, देखते नहीं, मैं कितना जरूरी काम कर रहा हूँ ।

हत्यारा सकपका गया । इतना निर्भीक और सन्तुलित व्यक्ति उसने अपने जीवन में पहले कभी नहीं देखा था । कुछ देर तो वह बैठा रहा, पर पीछे उसके पैर उखड़ गए और उलटेपैरों भाग खड़ा हुआ ।

अत्र लुप्ता सरस्वती

डाक्टर राजेन्द्र उपाध्याय

कहते हैं कि पटियाला के नजदीक रेगिस्तान में एक नदी 'सरस्वती' विलुप्त हो गयी। हो सकता है कि हमारे इतिहास का एक भौगोलिक तथ्य रहा हो, मगर 'सरस्वती' भारतीय जीवनधारा में कभी नहीं सूखने पायी। इसकी पुनीत धारा सहस्रों वर्षों से मनुष्य की चेतना में प्रवाहित होती रही है और उस आत्माभिव्यक्ति को विभिन्न दिशाओं की ओर अभिप्रेरित करती रही है। इसी प्रकिया में मनुष्य ने अपने विकास-क्रम में ज्ञान-विज्ञान के नवीनतम आयाम तलाश किये हैं और करता रहेगा।

भारतीय चिन्ताधारा ने सरस्वती को वाग्देवी, वाणी वाक्, भारती आदि कितनी ही पर्यायवाची संज्ञाएं प्रदान की हैं। मानव-मेधा को अभिव्यक्ति देनेवाली इस शक्ति का प्रसार सिर्फ सोचने और बोलने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि मानसिक चिन्तन की विभिन्न दिशाओं में स्फुरित हुआ है। चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला जैसी स्थूल द्विआयामी, त्रिआयामी कलाओं का सृजन, नादमय संगीत का लयात्मक उद्भव, ध्वनि-स्पंदन द्वारा देहयष्टि का गतिमय भाव-आवर्तन, शब्द और अर्थ के सामंजस्य से साहित्य का सूक्ष्मतर परा-बोध, ये सब मिल-जुलकर और अलग-अलग भी सृष्टि में व्याप्त छन्द अवतारणा करते हैं। इस छंद का, उसकी चक्षुग्राह्य स्थूल रूपाकृति का, उसके दैहिक स्पंदन का, उसके वाक्-अर्थ संप्रेषण का मूर्तिकृत रूप है—सरस्वती। यह समग्र कलाओं और विद्याओं की प्रेरक और अधिष्ठात्री शक्ति हैं। इसी शक्ति का अनुभव अपनी अन्तःप्रज्ञा द्वारा करते हुए आदिम कवि गा उठा—

पावका नः सरस्वती
वाजेभिर्वाजिनीवती
यज्ञं वष्टु धियावसुः।

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती
सुमतीनाम
यज्ञं दधे सरस्वती।
महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयती
केतुना
धियो विश्व विराजति।

इस ऋचागान के ऋषि 'मधुच्छन्दस' ने निश्चित ही उस सत्य का दर्शन कर लिया था जो मनुष्य की अन्तः-प्रेरणा को पवित्र करके उसे वैचारिक संपदा प्रदान करती है। इससे परिचालित उसकी सांसारिक क्रियाएं सफलता की ओर अभिमुख होती हैं। उसकी चेतना सत्कर्म की ओर प्रेरित होकर उसे कर्म-सत्य का दर्शन कराती है। चेतना का यह सक्रिय गतिशील प्रवर्तन उसे ज्ञान के महासमुद्र की तरफ ले जाता है जहाँ पहुँच कर वह सृष्टि के समग्र रहस्यों का अनुसंधान पाता है।

सरस्वती के सम्बन्ध में वैदिक ऋषि की यह अवधारणा लम्बी चिन्तन-प्रक्रिया का परिणाम है। मनुष्य की चेतना को प्रेरणा देने, उसकी वाणी को जागृत करने, उसकी प्रज्ञा को उद्बोध देनेवाली देवी है—सरस्वती, इस आशय में कई स्थानों पर संहिताएं उसका स्मरण करती हैं। वहीं भौतिक अर्थ में यह एक 'नदी' भी है, जिसके किनारे आर्य-संस्कृति का आरम्भिक विकास हुआ। 'दृषद्वती' के साथ मिलकर यह ब्रह्मावर्त की पश्चिमी सीमा निर्धारित करनेवाली नदी थी। इसके तट पर अनुष्ठित यज्ञों का विशेष महत्त्व रहा है। ऋग्वेद के छठे मण्डल के एक सूक्त में इसे पांच जातियों का पोषक कहा गया है। (६१-१२), तो वहीं आठवें मण्डल में इसके तट पर कई राजाओं के होने का प्रमाण भी मिलता है। (२१-१८) 'मैक्समूलर' के अनुसार वैदिक काल में यह

सतलज की भांति ही एक बड़ी नदी थी, जो सिन्धु के साथ मिलकर या स्वयं ही सागर में गिरती थी और भारत के अन्य भू-भागों के अलावा पंजाब की पश्चिमी सीमा के रूप में एक लौह दुर्ग के समान थी । वैदिक कवि भी इसके पर्वत से निकलकर समुद्र में गिरने से परिचित हैं । कुछ विद्वान् 'सिन्धु' को ही सरस्वती मानने के पक्ष में हैं । 'ओल्ढम' का विचार है कि सरस्वती, सतलज (शुतुद्री) की एक सहायक नदी थी, बाद में जब सतलज अपना रास्ता बदलकर विपाशा से मिल गयी, तब भी सरस्वती शुतुद्री की प्राचीन अधित्यका में ही प्रवाहित होती रही । कुछ लोगों ने उसे भारतीय-ईरानी परिदृश्य में 'अवेस्ता' में उल्लिखित अफगानिस्तान में पायी जाने वाली 'हरैकेति' नदी के साथ समीकृत किया है । इस सम्बन्ध में तथ्य जो भी हों किन्तु यह निर्विवाद है कि 'सरस्वती' नाम की एक नदी थी और आर्यों ने इसके तट पर एक अरसे तक प्रवास कर अपना सांस्कृतिक उन्नयन किया था ।

इन भौगोलिक तथ्यों के साक्ष्य में इस 'नदी' ने नक्शे पर अपना मार्ग निर्धारित करने, जातियों के विकास में सहयोग देने के अलावा कैसे मानव-मनीषा की गहनतम उपत्यका में पहुँचकर उसे आप्लावित किया और मनस् के स्थूल आवरणों का उद्‌भेद कर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अर्थान्विति की ओर उसे ले गयी, यह निश्चय ही एक अनुसंध्य प्रश्न है जिसका कोई तात्कालिक उत्तर या समाधान पाना असंभव नहीं तो मुश्किल अवश्य है । फिर भी इस दिशा में संहिताएं एक सीमा तक हमारी मदद करती हैं जब कि उनमें इसका एक 'नदी' होना स्पष्ट है, किन्तु वहीं इस नदी का अपार्थिव स्वरूप भी संकेतित है । इस वैदिक प्रतीक में, जिसमें 'नदी' और 'अंतः-प्रज्ञा' का सादृश्य स्थापित किया गया है । विरोध होते हुए भी समधर्मिता है । 'सरस्वती' शब्द का अर्थ होगा—धारायुक्त, प्रवाही । यह गतिशीलता नदी और आंतरिक प्रेरणा दोनों में ही होती है, इसीलिए इस प्रतीक-परक संज्ञा का औचित्य स्वयंसिद्ध हो जाता है ।

वेदों में सरस्वती का सम्बन्ध मात्र सात नदियों के साथ ही नहीं बल्कि कुछ और देवियों के साथ भी मिलता है । जैसे 'इला' और 'भारती' के साथ । द्रष्टव्य है कि यहाँ 'भारती' एक अलग देवी है जब कि वैदिकोत्तर काल में यह सरस्वती का ही एक प्रचलित नाम है । भारती को संहिता में 'मही' भी कहा गया है । [सरस्वती साधयन्ती धियं न इला देवी भारती विश्वतूर्तिः । तिस्रो देवी स्वधया बर्हिरेदमच्छिद्रं पातु शरणं निषद्य । (ऋ० २/३-८)] ये तीनों देवियां लगभग एक ही परिकल्पना की उपज प्रतीत होती हैं । इनमें विभिन्नता होते हुए भी कुछ अर्थों में अर्थगत समरूपता भी है । 'आनो यज्ञं भारती (बर्हिरिदं स्योनं) तूयमेतु इला मनुष्वदिह चेतयन्ती । तिस्रो देवी बर्हिरिदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु (१०/११०-८) । भारती का बोध के साथ सम्बन्ध तो है ही इस मन्त्र में 'इला' को स्पष्टतः मनुष्य की चेतना या बोध को जागृत करनेवाला कहा गया है ।

सरस्वती मात्र आंतरिक प्रज्ञा का स्फुरण करने वाली देवी ही नहीं, बल्कि भौतिक जीवन को सुख और समृद्धि से पूर्ण करनेवाली भी है । यह शक्ति और संतान प्रदान करती है । 'त्वे विश्वा सरस्वती श्रितायूंषि देव्याम् । शुनहोत्रेषु येत्वं प्रजां देवि दिड्ढनः ।' (२/४१-१७) इसके अक्षय स्तन विश्व को सभी सम्पदा प्रदान करने वाले हैं । (१/१६४-४६) यह स्तोताओं को सुरक्षा प्रदान करती है और शत्रुओं पर विजय प्राप्त करती है । 'सरस्वती त्वस्मां अविड्ढि मरुत्वति धृषति जेषि शत्रून् ।' (२/३०-८) यह माताओं, नदियों और देवियों में श्रेष्ठ हैं । 'अम्बितमे नदीतमे दवितमे सरस्वती ।' (२/४१-१६) इस तरह ये उल्लिखित साक्ष्य और भी अनेक दूसरे सन्दर्भ ऐसे हैं जिनमें सरस्वती समृद्धि, संतति, सुरक्षा, अमृतत्व प्रदान करनेवाली देवी के रूप में स्मरण की गयी हैं । वाजसनेयि-संहिता के एक सूक्त में यह अपनी वाणी-वाचा द्वारा इन्द्र में शक्ति का उद्रेक करती हैं ।

'....वाचा सरस्वती भिषगिन्द्रा येन्द्रियापाणिदधतः ।' (१९-१२) इसी सूक्त में इसे अश्विनों की पत्नी भी कहा गया है । (१९-९४)

सारे पुराकथाशास्त्रीय संदर्भ 'सरस्वती' के उस स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हैं जिसके द्वारा वह क्रमशः अपनी विकासमान प्रक्रिया में मनुष्य की अन्तःप्रज्ञा को स्फुरित

एवं अभिव्यक्त करने वाली शक्ति के रूप में स्थापित हुई । यह सरस्वती पुराणकाल में ब्रह्मा की दुहितृ-बेटी और उसकी पत्नी के रूप में मूर्तिकृत की गयी । शुभ्र वर्ण, धवल कान्ति, श्वेत परिधान, श्वेत कमल, हंस, वीणा, पुस्तक, अक्षयमाला के साथ विद्या, बुद्धि, कोमलता, सौन्दर्य की यह प्रतीक देवी उपासकों की वरदात्री हैं । आज भी यह अपने इसी रूप में प्रतिष्ठित हैं ।

वैदिक युगीन नदी सरस्वती संभव है उत्तर-पश्चिम के समुद्र के सूखने के साथ वहीं कहीं विलुप्त हो गयी हो । किन्तु उसका आध्यात्मिक प्रवाह हजारों साल तक लगातार बना रहा । लेकिन आज संक्रान्ति के इस दौर में उस प्रवाह के सर्वथा रुद्ध हो जाने का संशय फिर पैदा हो गया है । आज मानवीय अभिव्यक्ति के सभी माध्यम जिस अराजकता की स्थिति में हैं, वैसी स्थिति पूर्वकाल में सम्भवतः कभी नहीं थी । आयातित वाद-विवादों ने कला, संगीत, साहित्य सभी को जड़ोन्मुखी बना दिया है जिससे उनकी आंतरिक चेतना का सर्वथा ह्रास परिलक्षित हो रहा है । अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वैचारिक संक्रमण की स्थिति तो काम्य है किन्तु इस ऊहापोह में फंस कर हम अपनी पारम्परिक चेतना खो बैठें, हमारी नस्ल में किसी और का लहू बहने लगे, हमारी वाणी खुद हमारे लिए असंबोध्य हो जाय और हमारी आत्मा का प्रवाह रुद्ध हो जाय तो हारकर यही कहना पड़ेगा—'अत्र लुप्ता सरस्वती' । ☐

तुलसी : पूजामयी और कल्याणी

हमारे वेद व पुराणों में भी तुलसी के पौधे को पवित्र व गुणकारी माना गया है । तुलसी को नारी का प्रतिरूप माना जाता है तथा कई धार्मिक कथाओं में तुलसी के जीवन का रोचक वर्णन मिलता है । तुलसी के पौधे को आंगन या छत पर लगाया जाता है । अपने आस-पास के वातावरण को यह पौधा सुगन्धित बनाये रखता है तथा वायु को शुद्ध रखता है । तुलसी के सेवन से चर्म रोग, ज्वर, दुर्गन्ध व बच्चों की छोटी-मोटी पीड़ा से मुक्ति मिलती है ।

मलेरिया व साधारण ज्वर के लिए तुलसी के हरे पत्ते व काली मिर्च को बराबरी की मात्रा में पीस कर उस मिश्रण की छोटी-छोटी गोलियां बनाकर रख लें । बुखार व मलेरिया होने पर इन गोलियों को स्वच्छ पानी के साथ सुबह-शाम सेवन करने से रोगी स्वस्थ हो जाता है । इसी तरह बहुत छोटी उम्र के बच्चे को जब दस्त, बुखार, उदर पीड़ा या उल्टी की शिकायत हो तो ४-६ तुलसी के पत्तों को पीस कर उसका रस निकाल लें । इसमें मां का दूध मिलाकर बालक को चटायें या खिलायें ।

चेचक, दाद व काली खांसी जैसी छुआ-छूत की बीमारी के लिए भी तुलसी का प्रयोग बेहद लाभप्रद होता है । दाद, खुजली व चेहरे पर झाइयां होने पर तुलसी के पत्तों के रस में एक नीबू का रस मिलाकर उस तरल मिश्रण को दाद-खुजली व झाइयों वाले स्थान पर सप्ताह भर नियमित लगाने से रोगी को इन बीमारियों से निजात मिलती है । बालकों या बड़ों में चेचक निकलने की संभावना पर तुलसी के कुछ पत्तों व १० ग्राम केसर को सिल पर पीस कर स्वच्छ पानी में मिला लें । इस पानी को रोगी को पिलाने से चेचक के दाने जल्दी व बिना दर्द के निकल जाते हैं तथा दाग रहने की संभावना भी कम रहती है ।

कान के दर्द व सूजन के लिए ताजी तुलसी के पत्तों के रस की कुछ बूंदें सोते समय कान में डालने से राहत मिलती है । इसी बीमारी के लिए एक नुस्खा यह भी है कि कुछ तुलसी के पत्ते, उतनी ही अरण्डे की कोंपल व स्वाद के अनुरूप खाने वाला नमक डाल कर इसे मलहम जैसा गाढ़ा बना लें । इस लेप को कान के पीछे होने वाली सूजन वाले स्थान पर लगाने से ३-४ दिन में ही सूजन खत्म हो जाती है ।

खांसी के लिए तुलसी के पत्तों, काली मिर्च व लौंग का काढ़ा बनाकर रोगी को पिलाया जाता है । यदि हम चाहें तो इन तीनों के मिश्रण को छोटी-छोटी गोलियों के रूप में बना कर रख लें, तथा सुबह-शाम इन गोलियों को चूसते रहें । *—सुमन दाधीच*

महायोगी गोरखनाथ

श्री विश्वनाथ मुखर्जी

'अलख निरंजन ।'

दरवाजे पर यह आवाज सुनते ही गृहिणी ने भीतर से कहा—"जरा ठहर जाओ, बाबा । अभी आयी ।"

थोड़ी देर बाद वह भिक्षा लेकर बाहर आयी । उसकी उदास शक्ल देखते ही बाबा ने पूछा—"क्या बात है बेटी ? इतनी उदास क्यों हो ?"

पास ही एक पड़ोसिन खड़ी थी । उसने कहा—"शादी हुए कई वर्ष हो गये, अभी तक माँ नहीं बन सकी, लोग अपशकुन के भय से इसका मुँह नहीं देखते, इसीलिए बेचारी उदास रहती है ।"

बाबा ने कहा —"चिन्ता मत कर बेटी ! लो, यह भभूत खा लेना । भगवान् शिव की कृपा होगी तो तुम शीघ्र सुसंतान की जननी बन जाओगी ।"

भभूत देने के बाद बाबा चले गये । गृहिणी भभूत लेकर खड़ी रही । तभी पड़ोसन ने कहा—"भीख माँगनेवाले बाबा के भभूत से भला बच्चा होता है । बच्चे तो भगवान् की देन हैं । बिना उनकी कृपा के कुछ नहीं होता ।"

गृहिणी को बात लग गयी और क्रोध में आकर उसने उस भभूत को घर के पीछे घूर में फेंक दिया । उसने बाबा के भभूत पर विश्वास नहीं किया ।

समय गुजरता गया । रमता योगी वही बाबा पुनः गृहिणी के दरवाजे आये तो वही उदास चेहरा देखा तो चौंककर पूछा—'बेटी, तेरा लड़का कहाँ है ?'

'लड़का ?' महिला चौंकी ।

बाबा ने कहा—"आज से बारह वर्ष पहले मैंने तुम्हें भभूत देते हुए कहा था कि इसे खा लो । तुम एक सुसंतान की जननी बनोगी ।"

महिला ने कहा—"पड़ोसियों के व्यंग्य करने पर मैंने उसे घूर में फेंक दिया ।"

बाबा ने कहा—"जहाँ तुमने फेंका है, वहाँ मुझे ले चलो ।"

महिला बाबा को घूरे के पास ले आयी, बाबा ने आवाज दी—"अलख निरंजन ।"

इस ध्वनि को सुनते ही घूर में से एक गौरवर्ण का तेजस्वी बालक निकला और बाबा के पास नतमस्तक खड़ा हो गया । महिला विस्मय से अवाक् रह गयी । जब तक वह कुछ कहती, उसके पहले ही बाबा बालक को साथ लेकर अन्तर्धान हो गये ।

बाबा थे—योगिराज मत्स्येन्द्रनाथ और बालक था—गोरखनाथ । घूर में जन्म लेने के कारण गुरु मत्स्येन्द्र नाथ ने बालक का नाम गोरखनाथ रखा था । यह घटना रायबरेली जिले के अन्तर्गत जायस नामक कस्बे में हुई थी । मराठी भाषा में लिखित 'नवनाथ भक्तिसार' में इसी तरह की घटना का उल्लेख है । कहा जाता है कि जायस वाली कहानी को मराठी भाषा में उल्लेख किया गया है ।

'नाथ-सम्प्रदाय' के संस्थापक योगिराज गोरखनाथ के जन्मस्थान, संवत्, पिता-माता आदि का सही विवरण प्राप्य नहीं है । नाथ-सम्प्रदाय के सन्त उन्हें सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग चारों का मानते हैं । काश्मीर से सिंहल और असम से काठियावाड़ तक उनके बारे में तरह-तरह की कहानियाँ प्रचलित हैं । अधिकांश लेखक उन्हें ११वीं या १२वीं शताब्दी का मानते हैं ।

नाथ-सम्प्रदाय के सन्त या भक्त लोग जनश्रुतियों के आधार पर उन्हें सहस्रों वर्ष का व्यक्ति मानते हैं । यह केवल कल्पना की बात है । यह ठीक है कि हठयोगी पुरुषों की आयु लम्बी होती है, पर अब तक कोई भी संत २५० वर्ष के ऊपर जीवित नहीं रहा । अगर यह बात सत्य होती तो हमारे ऋषि-मुनियों को 'जीवेम शरदः शतम्' वर माँगने की आवश्यकता नहीं होती ।

मत्स्येन्द्रनाथ के बारे में कहा गया है—"पूर्व मध्ययुग में शैवधर्म नये रूप और नये आयाम में विकसित हो रहा था जिसे कालान्तर में नाथ-सम्प्रदाय या नाथ-पंथ अथवा हठयोग और सहजयान-सिद्धि कहा गया । इस सम्प्रदाय में नौ नाथों को दिव्य पुरुष के रूप में माना गया है । इसके पहले नाथ स्वयं शिव थे । दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मत्स्येन्द्रनाथ अथवा मच्छन्दरनाथ ने इस सम्प्रदाय का प्रचार किया । उनका जन्म बंगाल के एक धीवर-परिवार में हुआ था । उन्होंने बंगाल, असम आदि विभिन्न स्थानों की यात्राएँ कीं और तत्पश्चात् 'योगिनी कौल' नामक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । 'कौल ज्ञाननिर्णय' और 'अकुलवीर तंत्र' नामक उनके ग्रन्थों में 'योगिनी कौल' सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा की गयी है । इस सिद्धान्त के अनुसार शिव का नाम 'अकुल' है तथा शक्ति का 'कुल' । दोनों अन्योन्याश्रित हैं । इन दोनों के संयोग से सृष्टि होती है । मत्स्येन्द्रनाथ की यह साधना वज्रयानी बौद्धों की साधना से साम्य रखती है । इसीलिए मत्स्येन्द्रनाथ को 'अवलोकितेश्वर' के अवतार के रूप में स्वीकार किया गया है और तिब्बत में उन्हें सिद्ध लुईपाद के रूप में माना गया है ।"

"मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ को १०वीं-११वीं शताब्दी का माना गया है । नाथ-पंथ के प्रचार-प्रसार में आपका सशक्त योगदान है । इन्होंने भारत के संत्रस्त सामाजिक और धार्मिक जीवन को नवीन प्रवाह प्रदान किया । रावलपिण्डी जिला जो आजकल पाकिस्तान में है, उनका जन्मस्थान बताया गया है । गोरखनाथ से सम्बन्धित ऐसे अनेक स्थान पाकिस्तान में हैं । गोरखनाथ का टीला झेलम जिले में स्थित है, गोरख हटरी पेशावर शहर में है, गोरख की धूनी ब्लूचिस्तान की लालबेला रियासत में है ।"

"योगमार्ग, गोरक्षसिद्धान्त संग्रह जैसे ग्रन्थों में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है । उनके अनुसार 'शिव' ही परमतत्त्व है । जब उसकी इच्छा होती है तब वह शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाता है । शक्ति की पाँच स्थितियाँ हैं—(१) निजा (परम शिव में लीन), (२) परा (प्रत्यक्ष होने की कला), (३) अपरा (अभिव्यक्ति की स्थिति), (४) सूक्ष्मा (अभिमान का उदय) और (५) कुण्डली (अभिमान की चेतना की क्रिया) । इसी प्रकार शिव के पाँच रूप हैं—अपर, परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा ।"

"वस्तुतः गोरखनाथ के कारण नाथ-सम्प्रदाय का शीघ्रता से विकास हुआ । यही नहीं, गोरखनाथ से सम्बन्धित अनेक चमत्कारिक कहानियाँ भी प्रचलित हुईं तथा यह विश्वास किया जाता है कि उनका नाम लेने से सिद्धि प्राप्त हो जाती है । वे अपनी उच्च साधना से आध्यात्मिक शिखर पर पहुँच गये । नेपाल, तिब्बत, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, पंजाब, बंगाल, असम आदि प्रान्तों में उनके देवत्व के सम्बन्ध में अनेक अनुश्रुतियाँ फैलीं । उन्हें ब्रह्मा, विष्णु, शिव जैसे देवताओं से ऊपर स्वीकार किया गया था तथा समाज में उनका उच्च स्थान था ।"

"उनके हठयोग और सहजयान योग का तत्कालीन समाज में तीव्रता से प्रसार हुआ जिसने भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन को आन्दोलित किया । उनके सिद्धान्तों में प्राचीन शैवों, आजीवकों, वज्रयामी बौद्धों आदि के मतों और सिद्धान्तों का अनुपम समन्वय है । अनंगवज्र या रमणवज्र जैसा उनका बौद्ध नाम भी मिलता है । गोरखनाथ ने महात्मा बुद्ध की तरह मध्यम मार्ग का अनुगमन किया । उन्होंने बौद्ध और हिन्दू-तांत्रिकों की अनैतिक क्रियाओं का तथा आदर्शवाद के आध्यात्मिक सूक्ष्मीकरण और यौगिक क्रियाओं की अतिरंजना का कड़ा विरोध किया ।"

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का कथन है—"मत्स्येन्द्रनाथ का प्रसिद्ध ग्रन्थ कौलग्रन्थ अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वे बौद्ध नहीं थे । दरअसल नाथ साधकों के परम श्रद्धेय गुरु के रूप में प्रतिष्ठित होकर भी मत्स्येन्द्रनाथ बौद्धों के उपास्य देवता बन गये थे और इस दिशा में उन्हें असामान्य मर्यादा प्राप्त हुई है । यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है ।"

महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराजजी भी यही मानते हैं—"गोरखनाथ के कायाबोध ग्रन्थ में उन्हें पशु हत्याकारी के रूप में चित्रण किया गया है । पशु-हत्या से सम्बन्धित व्यक्ति बौद्ध नहीं हो सकता ।"

डॉ० कल्याणी मल्लिक ने इस दिशा में एक नये तथ्य का उल्लेख किया जो किसी हद तक उचित है । आप का कहना है—"मत्स्येन्द्रनाथ के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वे गोरख के गुरु तथा कनफटा-सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं । पाशुपत शैव संन्यासी के रूप में वे नेपाल गये थे, इसलिए शिव विग्रह नेपाल में है ।"

कुछ विदेशी लेखकों ने नाथ-सम्प्रदाय को कापालिक तथा अघोरी-सम्प्रदाय से सम्बन्धित माना है । वस्तुतः कापालिक और अघोरी अलग-अलग उपासक होते हैं । यह ठीक है कि इन दोनों के आचार-व्यवहार में विशेष अन्तर नहीं है । इन दोनों सम्प्रदायों में अनाचार काफी हद तक बढ़ गया था । उनकी इन क्रियाओं को सही रूप देने के लिए 'नाथ-सम्प्रदाय' की सृष्टि हुई थी । जैसा कि इसके आगे डॉ० जयशंकर अपने वक्तव्य में प्रकट कर चुके हैं ।

पण्डित गंगाशंकर मिश्र ने भी इस बात पर प्रकाश डाला है—'मिस्टर कुवस ने लिखा है कि 'गुरु गोरखनाथ ने अघोर-पन्थ पुनः चलाया है ।' पर यह ठीक नहीं जान पड़ता । गोरखनाथ के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है । लोग प्रायः उनका जन्म बारहवीं शताब्दी मानते हैं । उनका सम्प्रदाय नाथ-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है । कनफटे योगी भी उसी सम्प्रदाय के हैं । पर उनके सम्प्रदाय में अघोराचार की झलक नहीं है।"

डॉ० रांगेय राघव का विचार है कि—"गोरखनाथ के काफी पूर्व नाथ-सम्प्रदाय की उत्पत्ति हो गयी थी । बचपन से ही इन पर घुमक्कड़ नाथ सिद्धों का प्रभाव पड़ा था ।"

जो लोग ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर १३वीं शताब्दी तक गोरखनाथ की उपस्थिति मानते हुए इतिहास तथा घटनाओं के आधार पर प्रमाण देते हैं, वे भ्रम में हैं । वस्तुतः नाथ-सम्प्रदाय का विकास पाशुपत-सम्प्रदाय से हुआ है । बुद्ध के पूर्व भारत में ब्राह्मण-धर्म का संक्रमण-काल था, इसलिए मानव-जगत् को शान्ति-सद्भाव देने के लिए जब बुद्ध ने संदेश देना प्रारम्भ किया तब लोग बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट हुए और इस तेजी से यह धर्म फैला कि समस्त एशिया में इसका विस्तार हो गया । बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद इस धर्म के अनुयायियों में अनाचार बढ़ने लगा । तंत्र-मंत्र का प्रवेश होने के कारण लोग बौद्ध धर्म से विमुख होने लगे । ठीक इसी समय शैव धर्म का पुनः तेजी से विकास हुआ । शैव-धर्म का ही एक अंग पाशुपत-सम्प्रदाय था । महाभारत-काल के पहले ही इस धर्म का विकास हो चुका था । इसका उल्लेख पुराणों में भी है ।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है—"हर्ष के स्कन्धावार में पाशुपत साधु भी एकत्रित थे । प्रथम शताब्दी ईस्वी के बाद से मथुरा और समस्त उत्तर भारत में पाशुपत शैवों का प्रचार हो गया था । शंकराचार्य ने पाशुपत-दर्शन का खण्डन किया है ।"

"वायुपुराण और लिंगपुराण के अनुसार पाशुपत-मत का उद्भव लकुलिन नामक ब्रह्मचारी द्वारा हुआ था, जो शिव का अवतार था (अध्याय ३३, वायुपुराण, अध्याय २४, लिंगपुराण) । जिस समय वासुदेव कृष्ण उत्तरी भारत में अपना धर्म-प्रचार कर रहे थे, उस समय पश्चिमी भारत में कायावरोहण नामक स्थान पर लकुलिन का जन्म हुआ था ।"

"महाभारत के शान्तिपर्व के ही एक अन्य भाग में 'शिवसहस्रनाम' प्रसंग में कहा गया है कि स्वयं भगवान्

शिव ने पाशुपत-सिद्धान्त को प्रकट किया था । जो कुछ अंशों में वर्णाश्रम-धर्म के अनुकूल और कुछ अंशों में प्रतिकूल था ।"

"'सर्वदर्शन-संग्रह' नामक ग्रन्थ में आया है कि लकुलिन ने लोगों को पाशुपत-योग सिखाया था । इस लकुलिन को शिव का अवतार और कृष्ण का समकालीन माना गया है ।"

"पाशुपतों का उल्लेख साहित्य और शिलालेखों में बराबर होता रहा है । इससे सिद्ध होता है कि पाशुपत लोग शैवों का एक प्रमुख सम्प्रदाय बने रहे ।"

"दसवीं से तेरहवीं शती तक मैसूर के अनेक शिलालेखों में लकुलिन और उसके पाशुपतों का उल्लेख हुआ है । इससे स्पष्ट होता है कि समस्त काल में पाशुपतों का दक्षिण भारत में अस्तित्व था ।"

कहने का आशय यह है कि डॉ० कल्याणी मल्लिक के विचार वास्तव में सही हैं । बौद्ध तांत्रिकों, अघोरियों और कापालिकों के बढ़ते प्रभाव को कम करने तथा दिशाहीन लोगों को त्राण देने के लिए नाथ-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हुई । नाथ सम्प्रदाय के संस्थापक पाशुपत-सम्प्रदाय के अनुयायी थे । इनके आराध्य देवता शिव हैं ।

गोरखनाथ का जन्मस्थान सर्वश्री मोहनसिंह, टेसीटरी, ग्रियर्सन, जयशंकर मिश्र, रांगेय राघव आदि विद्वान् रावलपिण्डी में मानते हैं । जिस गाँव में बाबा गोरखनाथ ने जन्म लिया था, उस गाँव का नाम बाद में गोरखपुर कर दिया गया । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० रांगेय राघव गोरखनाथ जी को ब्राह्मण-वंश का मानते हैं । गोरखनाथजी पहले वज्रयानी थे, यानी बौद्ध थे । तारानाथ के अनुसार मुसलमानों के आने पर अपने को शैव कहकर राज्य-क्रोध से बच गये । तिब्बती बौद्ध इन्हें धर्मत्यागी के रूप में घृणा की दृष्टि से देखते हैं । दूसरी ओर सम्मान भी करते हैं । इससे स्पष्ट है कि उनका नाम सहजयान सूची में है ।

जो योगी कान नहीं फड़वाते, वे औघड़ कहलाते हैं । नाथ शब्द में 'ना' का अर्थ है—अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है—(भुवनत्रय को) स्थापित करना ।

नाथ-सम्प्रदाय के कनफटों को दर्शनी साधु कहा जाता है । दर्शनियों में जो बिलकुल नग्न रहते हैं, वे मद्य, मांस खाते हैं । कान की मुद्रा से यह नाम दिया गया है । कानवाली मुद्रा धातु या हाथीदाँत की होती है । मुद्राधारी 'कुण्डल' और 'दर्शन' दोनों नामों से ज्ञात हैं । दर्शन का सम्मान अधिक है । कुण्डल को 'पावित्री' भी कहते हैं । लेकिन गोरखनाथ भांग, मद्य, मांस से दूर रहते थे ।

गोरखनाथ के पश्चात् इस सम्प्रदाय में जालन्धरनाथ, चौरंगीनाथ, गहिनीनाथ, भर्तृहरि, कृष्णपाद, चर्पटीनाथ, गोपीचन्द, निवृत्तिनाथ, गोगापीर, गम्भीरनाथ आदि महान् योगी आये । इन लोगों ने अपने योगैश्वर्य के द्वारा साधारण लोगों को ही नहीं, सुधीजनों को भी प्रभावित किया । बाबा गम्भीरनाथ के अधिकांश भक्त बंगाल में हैं ।

नाथ-सम्प्रदाय के महान् योगी संत ज्ञानेश्वर का आज तक महाराष्ट्र में व्यापक प्रभाव है । नित्य हजारों श्रद्धालु आलन्दी स्थित उनके समाधिस्थल की पूजा करते हैं । संत ज्ञानेश्वर अपने बड़े भाई योगी निवृत्तिनाथ के शिष्य थे । निवृत्तिनाथ के गुरु गहिनीनाथ थे ।

गोरखनाथ जी अपने बारे में कहते हैं—

आदिनाथ नाती मछीन्द्रनाथ पूता ।
निज तत निहारै गोरष अवधूता ।।

—गोरखबानी, पद ३७ ।

अर्थात् मैं आदिनाथ (शिव) का नाती और मत्स्येन्द्रनाथ का पुत्र हूँ । इसी गोरखबानी में एक जगह गोरखनाथ दूसरी बात कहते हैं—

अवधू ईश्वर हमारैं चेला भणीजै मछीन्द बोलिए नाती ।
निगुरी पिरथी परलै जाती तार्थं हम उल्टी थापना थापी ।।

अर्थात् शिव मेरे शिष्य हैं और मत्स्येन्द्रनाथ मेरे नाती हैं । यहाँ कबीरदास की तरह उल्टी वाणी गोरखनाथ ने प्रस्तुत कर दी ।

वस्तुतः गोरखनाथ महान् योगी के साथ-साथ शैव-धर्म के श्रेष्ठ प्रचारक थे । सम्पूर्ण भारत में उन्होंने नागरिकों को पुनः अपनी यौगिक शक्ति के द्वारा शिव-भक्त बनाया ।

बंगाल के मुसलमान कवि फैजुल्ला के 'गोरख-विजय' काव्य से एक घटना का पता चलता है । गुरु मत्स्येन्द्रनाथ कदली देश (सिंहल—स्त्री-राज्य) में गये थे जहाँ उन्हें शिवोदिष्ट ज्ञान प्राप्त हुआ था । लेकिन यह काल्पनिक बात है ।

अधिकतर लोग यह मानते हैं कि बाबा गोरखनाथ एक बकुल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ थे । आकाश-मार्ग से सिद्ध कृष्णपाद जा रहे थे । उनकी नजर इन पर पड़ी, तभी अपने योगबल से बाबा गोरखनाथ ने उन्हें नीचे उतारा ।

कृष्णपाद ने कहा—"आप यहाँ ध्यान लगाये बैठे हैं और उधर आपके गुरु कदली वन में सोलह सौ सेविकाओं द्वारा सेवित महारानी कमला और मंगला के साथ विहार कर रहे हैं । महाज्ञान भूल चुके हैं । उनकी आयु के केवल तीन दिन शेष रह गये हैं ।"

बाबा गोरखनाथ ने कहा—"तुम्हारे गुरु की इससे भी खराब हालत है । गौड़ के राजा गोपीचन्द ने उन्हें मिट्टी में गड़वा दिया है ।"

एक-दूसरे के गुरु का विवरण सुनकर दोनों अपने-अपने गन्तव्य स्थान की ओर रवाना हो गये । गोरखनाथ के साथ लंग और महालंग नामक दो शिष्य भी गये । तीनों ब्राह्मण के वेष में कदली वन में आये । गोरखनाथ का रूप देखकर महल की एक दासी इन पर आसक्त हो गयी । उसकी जबानी ज्ञात हुआ कि मत्स्येन्द्रनाथ यहाँ हैं, पर महल में कोई पुरुष नहीं जा सकता ।

उसी समय एक नर्तकी महल की ओर जाती हुई दिखाई पड़ी । तुरन्त गोरखनाथ नर्तकी का रूप धारण कर सभा में जा पहुँचे । अपने योगबल के द्वारा मृदंग से बोल निकालने लगे—'जाग मछीन्द्र गोरख आया ।'

मृदंग के माध्यम से उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ को सूचित किया कि कृष्णपाद से सूचना पाकर मैं आपकी सेवा में आया हूँ । आप नारियों के चक्कर में क्यों फँस गये ? आप अपने 'काम-विकार' को त्याग दीजिए ।

शिष्य की वाणी सुनकर मत्स्येन्द्रनाथ को होश आया । दोनों ही व्यक्ति अलक्ष्य भाव से गायब हो गये और आकाश-मार्ग से गिरनार पर्वत पर उतरे जहाँ एक कुटिया थी । वहाँ मत्स्येन्द्रनाथ पहले से ही सशरीर उपस्थित थे । शिष्य-मण्डली उनके पास बैठी थी । गोरखनाथ यह दृश्य देकर चकित रह गये । उन्होंने शिष्यों से जब पूछा तब पता लगा कि गुरुजी तो यहाँ कई वर्षों से उपस्थित हैं । यहाँ से कहीं गये नहीं ।

यह जनश्रुति है कि गोरखनाथ के अहं को नष्ट करने के लिए मत्स्येन्द्रनाथ ने स्त्री-राज्य में लीला अभिनय किया था । पन्द्रहवीं शताब्दी में इसी जनश्रुति के आधार पर विद्यापति ने 'गोरक्ष विजय' नाटक लिखा था ।

नेपाल में मत्स्येन्द्रनाथ का काफी महत्त्व है । यहाँ के नागरिक मत्स्येन्द्र-यात्रा-उत्सव मनाते हैं । कहा जाता है कि एक बार नेपाल-नरेश ने मत्स्येन्द्रनाथ के अनुयायियों पर बहुत अत्याचार किया था । इससे नाराज होकर उन्होंने नवनागों को समेट लिया था । इस वजह से नेपाल में बारह वर्ष पानी नहीं बरसा । लोग नेपाल छोड़कर भागने लगे । चारों ओर हाहाकार मच गया । राजा को अपनी भूल मालूम हुई । उन्होंने एक दूत मत्स्येन्द्रनाथ के पास भेजा । गुरु को देखते ही गोरखनाथ आसन से उठ खड़े हुए और नवनाग मुक्त हो गया । इसके साथ ही वर्षा हुई । इस उपकार के कारण मत्स्येन्द्रनाथ का उत्सव मनाने की प्रथा प्रारम्भ हुई । नेपाल में मत्स्येन्द्रनाथ को अवलोकितेश्वर कहा जाता है ।

नेपाल में बाबा गोरखनाथ जहाँ साधना करते रहे, वह गुफा आज भी मौजूद है । इसे गोरखनाथ की सिद्ध गुफा कहा जाता है । उज्जैन में भी गोरखनाथ तथा भर्तृहरि की गुफाएँ हैं, जहाँ साधक लोग जाते हैं और श्रद्धालु पूजा करते हैं । इसके अलावा, काठियावाड़, शाक द्वीप, गोरखपुर, गोरखमण्डी (पटना) में भी गोरखनाथ की पूजा होती है ।

त्रिपुरा के राजा तिलकचन्द्र की ख्याति उन दिनों पूरे बंगाल में थी । इनकी पुत्री का नाम शिशुमति था । बाबा गोरखनाथ यात्रा करते हुए त्रिपुरा में आये तो शिशुमति को देखते ही चौंक उठे । तिलकचन्द्र से उन्होंने कहा—"मैं इस लड़की को दीक्षा दूँगा ।"

तिलकचन्द्र ने कहा—"बाबा यह तो शुशु है । योग-साधना यह क्या करेगी ?"

गोरखनाथ ने कहा—"मैं इसके भविष्य को देख रहा हूँ और आप वर्तमान को । आपत्ति मत करिये ।"

शिशुमति को दीक्षा देकर गोरखनाथ ने उसका नाम रखा—मयनामति ।

मयनामति के पति थे—माणिकचन्द्र । मयनामति के पुत्र का नाम थां—गोविन्दचन्द्र । माणिकचन्द्र के निधन के बाद गोविन्द का जन्म हुआ था । कहा जाता है कि माणिकचन्द्र के निधन के बाद मयनामति काफी घबड़ा गयी थी । राज्य का शासन तथा पेट में पलते बच्चे की देख-रेख करना था । उन्हीं दिनों अचानक गोरखनाथ आविर्भूत होकर बोले—"तुम्हें परेशान होने की आवश्यकता नहीं है । तुम दोनों कार्य सकुशल सम्हाल लोगी । मैं आशीर्वाद देता हूँ, तुम सफल हो जाओगी । लेकिन एक जात याद रखना, जब तुम्हारा बालक किशोर बन जाय तब उसे भी नाथ-सम्प्रदाय में दीक्षित करा देना । आगे चलकर यह बालक नाथ-सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण साधक बनेगा ।"

बालक जब अठारह साल का हो गया तब उसका विवाह हुआ और उसके बाद ही गोविन्दचन्द्र नाथ-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गया । सम्पूर्ण बंगाल में बाउल फकीर गोपीचन्द्र और मयनामति के गीत गाते हुए भीख माँगते हैं । तत्कालीन कई लोकगीतों के कवियों ने इन गीतों को गाँव-गाँव में फैलाया है ।

कहा जाता है कि राजा भर्तृहरि भी बाबा गोरखनाथ के शिष्य थे जो रानी पिंगला के विरह में व्याकुल होकर गोरखनाथ की शरण में आये थे । उत्तर भारत के योगी आज भी सारंगी बजाते हुए गाते हैं—'भीक्षा दे माई पिंगला ।

गेरुए रंग का धोती-कुर्ता और सिर पर पगड़ी बाँधे रहते हैं । शहर और गाँव सर्वत्र इनकी सारंगी बजती है ।

सिलवाँ लेवी ने लिखा है—"गोरखा-जाति और गोरखा-राज्य के रक्षक के रूप में गोरखनाथ को महापुरुष माना जाता है और उनकी पूजा की जाती है ।"

नेपाल में गोरखा नामक एक लड़ाकू जाति है जिनके परिवार के अधिकांश सदस्य सैनिक बनते हैं । इन लोगों का कहना है कि गोरखनाथ जी हमारे यहाँ बारह वर्ष तक तपस्या करते रहे । तपस्या-भूमि का नाम 'गोरखा' है । इन्हीं के नाम पर बसे स्थान के कारण गोरखा-जाति की उत्पत्ति हुई है ।

बंगला-साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक श्री दिनेशचन्द्र सेन लिखा है—'गोरक्ष विजय' से यह भी पता चलता है कि कालीघाट (कलकत्ता) की काली देवी की प्रतिष्ठा गोरखनाथ के द्वारा हुई है । वर्तमान समय में गोरखनाथ के नाम पर स्थापित गोरखपुर की ख्याति सर्वत्र है जहाँ बाबा गोरखनाथ लम्बे अर्से तक तपस्या करते रहे ।

जिस प्रकार बाबा के जन्म तथा जन्मस्थान का पता नहीं चलता, ठीक उसी प्रकार उनके तिरोधान का पता नहीं लग सका । नाथ-सम्प्रदाय के लोगों का विचार है कि बाबा अमर हैं । अभी तक उनकी योग विभूति कभी-कभी प्रकट होती है । □

राजनीति से कहाँ तक जुड़े धर्म

युवाचार्य महाप्रज्ञ

विचार संप्रेषण का सर्वाधिक शक्तिशाली और व्यापक माध्यम है शब्द सही अर्थ में प्रयुक्त शब्द क्रांति को जन्म दे सकता है । गलत अर्थ में प्रयुक्त शब्द भ्रांति को जन्म देता है । कुछ शब्दों का प्रयोग व्यापक स्तर पर भ्रांति पैदा कर रहा है । जैसे :

* राजनीति के संदर्भ में धर्म
* लोकतंत्र के संदर्भ में धर्मनिरपेक्ष
* विधि के संदर्भ में अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक
* हिन्दू धर्म
* सर्वधर्मसमभाव

नीति के तीन विभाग प्राचीनकाल से विश्रुत हैं—समाजनीति, राजनीति और धर्मनीति । आधुनिक संदर्भ में चौथा विभाग हो सकता है अर्थनीति । समाज, राज, अर्थ और धर्म—सब अपने-अपने नय के साथ चलते हैं और अपने-अपने लक्ष्य तक पहुँचने की इनमें शक्ति है । इसलिए इन्हें नीति कहा गया ।

समाजनीति का लक्ष्य है—संगठित शक्ति का उपयोग और परस्परता का विकास । राजनीति का लक्ष्य है—अपने क्षेत्र में रहने वाले नागरिकों की सुरक्षा, आजीविका, शिक्षा और चिकित्सा की व्यवस्था करना, अपराध की रोकथाम और हित का संपादन । अर्थनीति का लक्ष्य है—प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यकता पूर्ति की साधन सामग्री उपलब्ध कराना । धर्मनीति का लक्ष्य है—परमार्थ की चेतना को जगाना, आत्मा से परमात्मा होने की दिशा में प्रस्थान करना अथवा परमात्मा के साथ संबंध स्थापित करना ।

इन चारों नीतियों का परस्पर संबंध है । पर ये एक दूसरे के द्वारा शासित अथवा संचालित नहीं हैं ।

भारतीय चिंतन में त्रिवर्ग अथवा पुरुषार्थ चतुष्टयी की कल्पना बहुत महत्त्वपूर्ण है । त्रिवर्ग सिद्धांत में काम, अर्थ, और धर्म—ये तीन पुरुषार्थ सम्मत हैं । पुरुषार्थ चतुष्टयी में काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष—ये चार तत्त्व मान्य हैं । त्रिवर्ग सम्मत धर्म समाजधर्म है । उसका अर्थ न्याय और व्यवस्था है । त्रिवर्ग में मोक्ष नहीं है । इसलिए उसमें मोक्ष धर्म अथवा आत्मधर्म की कल्पना नहीं की जा सकती । पुरुषार्थ चतुष्टयी में धर्म का अर्थ बदलता है । वहाँ मोक्ष अथवा आत्मा से परमात्मा होने का सिद्धांत स्वीकृत है । इसलिए धर्म का अर्थ हो जाता है परमात्मा होने की साधना, परमतत्व अथवा परमअर्थ की साधना ।

धर्म शब्द के अनेक अर्थ होते हैं :

१. प्रकृति का नियम, २. मान्यता, ३. विश्वास, ४. सामाजिक आधार, ५. शिष्टाचार, ६. रीति-रिवाज, ७. सामाजिक नियम, ८. कानून, ९. नैतिक नियम, १०. चरित्र, ११. सम्प्रदाय, मत आदि-आदि ।

धर्म शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है । उसका कालक्रमिक इतिहास है । इस अनेकार्थता ने अनेक भ्रांतियाँ भी उत्पन्न की हैं । समाज व्यवस्था के लिए भी धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है । समाज व्यवस्था को विशुद्ध बनाने वाले चरित्र और नैतिक नियम का नाम भी धर्म है ।

धर्म का मुख्य लक्ष्य है—आत्मोपलब्धि, परमात्मापंद की प्राप्ति अथवा मोक्ष । क्या मोक्षधर्म के द्वारा समाज और राज्य की व्यवस्था संचालित या शासित हो सकती है ? इस प्रश्न के उत्तर में दो विचारधाराएँ सामने आती हैं । एक विचारधारा है कि समाज और राज्य की व्यवस्था समाजधर्म और राज्यधर्म के द्वारा संचालित या शासित

होनी चाहिए । दूसरी विचारधारा यह है—समाज और राज्य की व्यवस्था मोक्षधर्म के द्वारा संचालित या शासित नहीं हो सकती । वह समाज और राज्यधर्म के द्वारा ही संचालित या शासित होनी चाहिए । इसका हेतु है—लक्ष्य की भिन्नता । दो भिन्न लक्ष्यों की पूर्ति एक साधन से नहीं हो सकती ।

जिस विचारधारा में समाज और राज्य की व्यवस्था तथा धर्म की साधना में भिन्नता नहीं है, वहाँ समाज और राज्य की व्यवस्था के नियम और धर्म की आचार संहिता में भेद नहीं होता, इसीलिए वहाँ धर्म और कानून के बीच कोई भेद रेखा नहीं खींची जा सकती ।

धर्म की धारणा सबकी समान नहीं होती । राज्य की धारणा सबके लिए समान है । एक राज्य में अनेक धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं । यदि राज्य की व्यवस्था धर्म के द्वारा संचालित या शासित हो तो किस धर्म के द्वारा शासित हो । यह प्रश्न सहज ही उभर आएगा । इसका उत्तर सरल नहीं है । चारित्रात्मक धर्म सबका समान है । इसलिए उसके द्वारा राज्य की व्यवस्था संचालित हो सकती है । यह स्थापना भी सर्वथा निर्विवाद नहीं है । राज्य में कुछ लोग शाकाहारी होते हैं और कुछ मांसाहारी । कुछ शराब की वर्जना करने वाले होते हैं और कुछ शराब पीने वाले भी होते हैं । राज्य मांस और शराब की भी व्यवस्था करता है । विवाह संस्था के नियम भी सब धर्मों के समान नहीं हैं । एक राज्य में कानून प्रत्येक नागरिक के लिए समान होता है । धर्म की अवधारणा सबकी समान नहीं होती । निवृत्ति प्रधान धर्म, विवाह आदि संस्कारों को विधान नहीं करता । प्रवृत्ति प्रधान धर्म, जन्म-विवाह आदि सभी संस्कारों का विधान करते हैं । धर्म के क्षेत्र में ऋजुता मान्य है । राज्य व्यवस्था के लिए कूटनीति भी प्रयोजनीय है । ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जहाँ धर्मनीति और राजनीति की दिशाएँ भिन्न होती हैं । इस दिशाभेद के आधार पर यह सिद्धांत फलित होता है कि राज्य व्यवस्था धर्म से संचालित या शासित नहीं हो सकती ।

क्या धर्मविहीन राजनीति और राज्य व्यवस्था खतरनाक नहीं होगी ? इस प्रश्न का उत्तर विभाज्यवाद के आधार पर ही दिया जा सकता है । साम्प्रदायिक कट्टरता वाले धर्म से विहीन राजनीति और राज्य व्यवस्था खतरनाक नहीं होती । वह राजनीति और राज्य व्यवस्था खतरनाक होती है, जो अहिंसा, सत्य, प्रामाणिकता रूप चरित्र धर्म से प्रभावित नहीं होती ।

भगवान महावीर ने धर्म के दस प्रकार बताए हैं :

ग्राम—धर्म ग्राम व्यवस्था की आचार संहिता, नगरधर्म—नगर पालिका की आचार संहिता, गणधर्म—गणराज्य की आचार संहिता, राष्ट्रधर्म—राष्ट्र की आचार संहिता, कुलधर्म—कुल की आचार संहिता, संघधर्म—संघ, गण समूह की आचार संहिता, पाषण्ड धर्म, विविध सम्प्रदायों द्वारा सम्मत आचार व्यवस्था, श्रुत धर्म और चारित्रधर्म—मोक्ष के साधक, आत्म उत्थान के हेतु भूत तत्व, अस्तिकाय धर्म—पंचास्तिकाय का स्वभाव ।

इनमें श्रुत धर्म और चारित्रधर्म—ये आध्यात्मिक धर्म हैं । ग्रामधर्म, नगरधर्म आदि व्यवस्थात्मक धर्म हैं । ग्राम और नगर की व्यवस्था का प्रत्यक्ष संबंध ग्राम और नगर धर्म से है, परोक्ष संबंध आध्यात्मिक धर्म से है । आध्यात्मिक धर्म से व्यवस्था का संचालन नहीं होता, व्यवस्था का विशोधन होता है । वह समाज व्यवस्था अच्छी होती है, जिसका संचालन समाजधर्म अथवा समाज की आचार संहिता से होता है । वह राज्य व्यवस्था अच्छी होती है, जिसका संचालन राज्यधर्म अथवा राज्य की आचार संहिता से होता है ।

हिन्दुस्तान लोकतांत्रिक देश है । संविधान में उसे सेक्युलर स्टेट माना गया है । इसका अनुवाद किया गया धर्मनिरपेक्ष राज्य । इस धर्मनिरपेक्ष शब्द से पुरानी पीढ़ी के मन में एक विद्रोह की भावना पैदा की और नई पीढ़ी के मन में एक भ्रांति को जन्म दिया । लोकतंत्र में राज्य का शासन किसी सम्प्रदाय विशेष के हाथ में नहीं होता । वह सम्प्रदायातीत अथवा असाम्प्रदायिक होता है । इस उदात्त भावना को धर्मनिरपेक्ष शब्द अभिव्यक्ति नहीं दे सका, फलतः भ्रांति पैदा हो गई । आचार्य तुलसी ने तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी से धर्मनिरपेक्ष शब्द को बदलने की बात कही और सुझाव दिया—'धर्मनिरपेक्ष के

स्थान पर सम्प्रदायनिरपेक्ष अथवा पंथनिरपेक्ष शब्द का प्रयोग किया जाए । अभी जो संविधान का हिन्दी अनुवाद मुद्रित हुआ है, उसमें सेक्युलर का अर्थ पंथनिरपेक्ष किया गया है ।

लोकतंत्रीय राष्ट्र पर किसी सम्प्रदाय अथवा पंथ का आधिपत्य हो तो वह अपने लोकतंत्रीय स्वरूप को सुरक्षित नहीं रख सकता । इसलिए लोकतंत्रीय राष्ट्र का सम्प्रदाय अथवा पंथ निरपेक्ष होना अनिवार्य है । सम्प्रदाय निरपेक्ष होने का तात्पर्य धर्मनिरपेक्ष, धर्महीन अथवा धर्मविरोधी होना नहीं है । कोई भी राष्ट्र किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के द्वारा शासित हुआ है, तब जनता के साथ न्याय नहीं हो सका । अपने प्रतिपक्षी धर्मों के साथ अन्याय हुआ । सुकरात को जहर का प्याला पिलाया गया । गैलेलियो को फांसी दी गई । गाँधी और मार्टिन लूथर किंग की हत्या की गई । साम्प्रदायिक कट्टरता में सहिष्णुता नहीं होती । वह अपने से भिन्न विचार को सहन करना जानती ही नहीं । इसीलिए यह विचार मन को आकर्षित करता है कि राजनीति किसी सम्प्रदाय विशेष की अवधारणा से संचालित नहीं होनी चाहिए ।

आज जिस भूखंड का नाम हिन्दुस्तान है, प्राचीनकाल में उसका नाम भारत या भारतवर्ष था । ऋषभपुत्र भरत के नाम से उसका भारत नामकरण किया गया । पारस (वर्तमान ईरान) आदि मध्य एशियाई देशों के सम्पर्क के कारण इसका नाम हिन्दू देश प्रचलित हुआ । आचार्य कालक ने कहा—आओ ! हम हिन्दू देश चलें—'एहि हिन्दुमदेशं बच्चामो' । यह निशीथ चूर्णि (जैन साहित्य) का प्रयोग है । भारतीय साहित्य के उल्लेखों में यह सबसे प्राचीन है । पारसी सम्राट द्वारा महान (छठी शताब्दी ई. पू.) के अभिलेखों में सिन्धु प्रदेश के लिए 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग मिलता है । जैसे राजस्थान आदि कुछ प्रदेशों में स का उच्चारण ह किया जाता है । वैसे ही प्राचीन फारसी बोली में भी स का उच्चारण ह होता था । मूल प्रकृति के अनुसार हिन्दू शब्द देश या राष्ट्र का वाचक है । यह किसी धर्म का वाचक नहीं है ।

भारतवर्ष में चिरकाल से धर्म की दो धाराएँ प्रवाहित रहीं—श्रमण और वैदिक । श्रमण परम्परा का मंत्र क्षत्रियों के हाथ में था । वैदिक परम्परा का सूत्रधार ब्राह्मण वर्ग था । सांख्य, जैन, बौद्ध और आजीवक—ये सब श्रमण परम्परा के धर्म हैं । मीमांसा, वेदांत—ये वैदिक परम्परा के धर्म हैं । हिन्दू नाम का कोई भी प्राचीन धर्म नहीं है । मुसलमान के आगमन के पश्चात् हिन्दू और मुसलमान पक्ष और प्रतिपक्ष बन गए । प्राचीनकाल में संस्कृत व्याकरणकारों ने श्रमण और ब्राह्मण का नित्य विरोधी के रूप में उल्लेख किया है । आधुनिक काल में श्रमण और ब्राह्मण का विरोध मंद हो गया । उसका स्थान हिन्दू और मुसलमान ने ले लिया । एक श्रमण ब्राह्मण धर्म में दीक्षित हो जाता और एक ब्राह्मण श्रमण धर्म में दीक्षित हो जाता, उससे कोई जाति परिवर्तन नहीं होता । हिन्दू और मुसलमान में कोरा धर्म सम्प्रदाय का भेद ही नहीं है, जाति भेद भी है । जाति भेद के आधार पर हिन्दू और मुसलमान शब्द प्रचलित हुआ । उसका प्रभाव धर्म की धारणा पर भी पड़ा । फलतः हिन्दू धर्म जैसा शब्द भी प्रचलित हो गया ।

आधुनिक युग में धर्म का वर्गीकरण सनातन, वैष्णव, जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त आदि रूपों में रहा । हिन्दू धर्म की व्याख्या वैदिक धर्म के रूप में की गई । तब जैन, बौद्ध, शैव, सिख आदि उस धारा से भिन्न हो गए । हिन्दू शब्द यदि राष्ट्र और जाति का वाचक रहे तो जैन, बौद्ध आदि सभी हिन्दू शब्द के द्वारा वाच्य हो सकते हैं । किसी के सामने कोई उलझन नहीं होनी चाहिए । आचार्यश्री तुलसी ने कहा था—हिन्दुस्तान में रहने वाला प्रत्येक नागरिक हिन्दू है । धर्म या मजहब की दृष्टि से भले फिर वह ईसाई हो, इस्लाम का अनुयायी, पारसी, अथवा और कोई भी हो । हिन्दू धर्म इस शब्द ने हिन्दुत्व को संकुचित बना दिया । केवल मुसलमान, ईसाई और पारसी ही हिन्दुत्व से पृथक नहीं हुए हैं, जैन, बौद्ध और सिख भी उससे पृथक हुए हैं । पूना के कुछ पंडितों ने आचार्यश्री तुलसी से पूछा—जैन हिन्दू हैं या नहीं ? आचार्यश्री ने उत्तर में कहा—'यदि आप हिन्दू का अर्थ वैदिक परम्परा का अनुयायी करते हैं तो जैन हिन्दू नहीं हैं, और यदि हिन्दू का अर्थ राष्ट्रीयता है तो जैन हिन्दू हैं ।'

हिन्दू शब्द व्यापक अर्थ में भारत का पर्यायवाची है । सिन्धु नदी से उपलक्षित होने के कारण यह हिन्दू देश कहलाया और इसी आधार पर इसका नाम हिन्दुस्तान हुआ । इस व्यापक संदर्भ में हिन्दुस्तान का प्रत्येक नागरिक हिन्दू कहलाए, इसमें कोई प्रतिवाद नहीं होना चाहिए । किन्तु हिन्दू एक जाति बन गई, इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता । नेपाल हिन्दू राष्ट्र है । वहाँ हिन्दू अधिक संख्या में हैं ।

विश्व के अनेक देशों में हिन्दू रहते हैं । उनमें कुछ हिन्दुस्तान के नागरिक हैं और कुछ अन्य राष्ट्रों के नागरिक । इसलिए हिन्दू एक जाति भी है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता । हिन्दू जाति का मूल आधार देश या राष्ट्र ही है । विश्व के किसी भी कोने में जो हिन्दू हैं, उनका मूल हिन्दुस्तान रहा है । इसलिए उनका वर्तमान अतीत से जुड़ा हुआ है । इस प्रकार राष्ट्र और जाति दोनों के बीच एक सरल अनुबंध और संबंध प्रतीत होता है ।

सबसे अच्छा है हम हिन्दू शब्द को राष्ट्र के साथ अनुबंधित करें । उससे आगे बढ़ना चाहें तो उसे जाति के साथ अनुबंधित करें । इससे आगे न बढ़ें । पहला विकल्प व्यापक है । दूसरा विकल्प व्यापकता को सीमित करता है । उससे तीसरे विकल्प की ओर बढ़ना एक आदमकद सीसे को शतखंड करना है, जिसमें अपना प्रतिबिम्ब भी नहीं देखा जा सकता ।

शब्दार्थ की दृष्टि से अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक—दोनों शब्द सार्थक हैं । किन्तु राजनीतिक संदर्भ में दोनों बहुत त्रुटिपूर्ण हैं । राजनीति के क्षेत्र में इन शब्दों का सदुपयोग कम हुआ है, अधिकांशतः दुरुपयोग हुआ है । उत्तेजना फैलाने और हिंसा भड़काने में ये शब्द वाहक बने हैं । राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक नागरिकता की दृष्टि से समान होता है । जब हम अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक का उपयोग करते हैं, तब राष्ट्र को गौण, जातीयता और प्रांतीयता को प्रधान बना देते हैं । मुसलमान इस्लाम के अनुयायी हैं । हिन्दुस्तान में इस्लाम के अनुयायी अल्पसंख्या में हैं और उसे न मानने वाले अधिक संख्या में । इस अल्पसंख्यकता और बहुसंख्यकता का आधार धर्म सम्प्रदाय हैं, राष्ट्रीयता नहीं । राष्ट्रीयता की दृष्टि से न कोई अल्पसंख्यक है और न कोई बहुसंख्यक । अल्पसंख्यक को वही अधिकार प्राप्त है, जो बहुसंख्यक को है; और बहुसंख्यक को वही अधिकार प्राप्त है जो अल्पसंख्यक को हैं । धार्मिक विश्वास के आधार पर जैन और बौद्ध भी अल्पसंख्यक हैं । वैदिक धर्म भी अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हैं । बहुसंख्यक कौन है, यह निष्कर्ष निकलना सरल नहीं है । राष्ट्रीय मंच पर अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक का प्रयोग न हो, यह राष्ट्र के हित में है ।

'समभाव' शब्द अस्पष्ट है । उससे भ्रांत धारणा जन्म लेती है । समभाव का अर्थ यदि सबको समान मानता है, तो वह यथार्थ से परे है । प्रत्येक धर्म की धारणा में भेद है, तो उन धर्मों के प्रति समानता की बुद्धि कैसे उत्पन्न होगी । समभाव का अर्थ यदि विभिन्न धर्मों की विभिन्न धारणाओं के प्रति अपना दृष्टिकोण समतापूर्ण रखना हो तो समभाव के स्थान पर सर्वधर्म सहिष्णुता का प्रयोग अधिक सार्थक हो सकता है । हम अपने से भिन्न विचार के प्रति असहिष्णु न बनें, यह साम्प्रदायिक उत्तेजना रोकने का बीजमंत्र है । वैचारिक असहिष्णुता ही साम्प्रदायिक झगड़ों को उत्पन्न करती है, इसलिए सर्वधर्म सहिष्णुता का पाठ हमारे लिए अधिक श्रेयस्कर हो सकता है ।

जैन दर्शन में निक्षेप पद्धति का महत्वपूर्ण स्थान है । उसका तात्पर्य है—शब्द प्रयोग का वैज्ञानिक दृष्टिकोण । शब्द का वह प्रयोग वांछनीय होता है जो प्रतिनियत अर्थ को प्रकाशित करे । उसमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति के लिए अवकाश न हो । वह संशय और भ्रम को जन्म न दे । हमारी सफलता और विफलता शब्द और अर्थ की परिक्रमा कर रही है । इसलिए शब्द प्रयोग के प्रति हमारी जागरूकता नितांत स्पृहणीय है । □

वेदान्त के व्याख्याकार स्वामी चिन्मयानन्द

स्वामी चिन्मयानन्द इस युग में वेदान्त के सबसे प्रभावशाली और समर्थ व्याख्याकार थे । स्वामी विवेकानन्द के बाद सम्भवतः वे पहली विभूति थे जिन्होंने गीता, उपनिषद् और वेदान्त ग्रन्थों के माध्यम से भारतीय धर्म और संस्कृति की आधुनिक संदर्भों में व्याख्या की । उनकी व्याख्या को सुना और सराहा ही नहीं बल्कि स्थापित संस्थाओं में दिनोंदिन बढ़ रही जिज्ञासुओं की संख्या । प्रवचनों के अलावा कक्षाओं और चर्चाओं में स्वामीजी ने विभिन्न प्रसंगों पर उनसे किए गए प्रश्न और उत्तर प्रस्तुत हैं :

- लोगों का धर्म से मोहभंग होता जा रहा है । इसलिए बहुत से लोग धर्म अध्यात्म के चंगुल से छूट कर अपनी सुख शान्ति कहीं और तलाश रहे हैं ?

—अगर आपको ऐसा लगता है तो यह एकांगी अनुभव है । आप सिर्फ उन लोगों को देख रहे हैं जिनके लिए भौतिक सुख सुविधाएं ही सब कुछ हैं । वे धार्मिक विश्वासों या मर्यादाओं को तिलांजलि दे कर भौतिक जीवन को ही सब कुछ मान रहे हैं । लेकिन आप एक और धारा की अनदेखी क्यों करते हैं लोग अपने जमे जमाए कारोबार छोड़ कर धार्मिक संस्थानों में अपना जीवन सौंप रहे हैं ।

विश्वविद्यालयों और तकनीकी शिक्षण संस्थाओं से निकल कर या पढ़ायी छोड़ कर धर्म की खोज में जुट रहे हैं । चूंकि दोनों तरह के लोगों से मेरा वास्ता पड़ता है । इसलिए कह सकता हूँ कि दूसरी तरह की धारा भी है और अपेक्षाकृत वह प्रबल है ।

- धर्म अध्यात्म और दुनियादारी में यह खाई क्यों है कि आध्यात्मिक सुख खोजना हो तो भौतिक सुखों का त्याग करना पड़ेगा और भौतिक सुख पाना हो तो धार्मिक विश्वासों को दरकिनार करना पड़ेगा ।

—पहले यह समझिए कि धर्म क्या है ? मोटे अर्थों में धर्म का अर्थ है सबके साथ अपना कल्याण । धर्म अपने अस्तित्व को एकांगी और सीमित नहीं बनाता । वह उसके विस्तार की प्रेरणा देता है और समूचे जगत के साथ ज़ोड़ता है । भौतिकवाद इसके सर्वथा विपरीत है । वह केवल अपने सुख की चिन्ता करता है । मेरी खुशी ही सब कुछ है । मुझे ही सुख मिलना चाहिए । मेरी पत्नी और मेरे बच्चे सुखी रहे बाकी दुनिया को चाहे जो हो । भौतिकवाद इसी संकीर्ण स्वार्थपरता का नाम है ।

- धर्म अध्यात्म भी तो अपने ही निर्वाण या अपनी ही मुक्ति की बात सोचता है । इस मायने में धर्म अध्यात्म भी स्वार्थपरता को बढ़ावा नहीं देते क्या ?

—निर्वाण या मुक्ति कोई व्यंजन नहीं है कि आप उसे गटक लें । कोई जेवर या दौलत भी नहीं है कि उसे लेकर आप तिजोरी में बंद कर दें या बैंक में जमा करा दें । निर्वाण कोई स्थूल चीज नहीं है कि उसे हासिल किया या हथियाया जा सकता है । निर्वाण या मोक्ष का अर्थ है—अपनी चेतना का विस्तार । साधक पूरे जगत से विश्व ब्रह्माण्ड से एकरूपता स्थापित करना चाहता है । उसके लिए साधना करता है । क्या कोई भौतिकवादी या सांसारिक सुखों के पीछे दौड़ने वाला व्यक्ति पूरे संसार के लिए सुख की कामना करता है । सांसारिक सुख हमेशा वस्तुओं पर निर्भर है । लेकिन धर्म या अध्यात्म के साथ ऐसा नहीं है । उसे जीना और आचरण में उतरना पड़ता है ।

वस्तुतः भोग और योग दो अलग जीवन पद्धतियाँ हैं । आप सूट-बूट पहन कर लकदक रहते हुए भी योगी हो सकते हैं और भभूत रमा कर, लंगोटी पहने हुए भी भोगी हो सकते हैं । दोनों अलग-अलग मानसिक स्थितियां हैं । अध्यात्म दूसरी जीवन पद्धति का नाम है जिसमें आप सुख सुविधाओं के बीच रहते हुए भी उनसे अलग रहते हैं । उनमें लिप्त नहीं होते । उनके होने पर उनसे भागते नहीं हैं और अगर नहीं हो तो उनकी कामना नहीं करते ।

- धर्म अक्सर शोषण का हथियार रहा है । उसके जरिए लोगों के विरोध को दबाया और कुचला जाता रहा । जैसे चर्च में एक अरसे तक राजाओं और सामंतों के हाथ मजबूत किए और लोगों पर अत्याचार होते रहे । भारत में भी यह कुछ जातियों या वर्गों के सामाजिक पिछड़ेपन का कारण रहा ।

—भारत में धर्म कभी संगठित रूप में नहीं रहा कि वह अपनी ताकत से लोगों को दबा सके । पश्चिम में जरूर ऐसा हुआ क्योंकि पश्चिम में ईसाइयत चर्च के रूप में प्रायः संगठित रही । वहाँ चर्च राज्य का सहयोगी रहा तो एक पहलू यह भी है कि अरसे तक वहाँ दोनों में टकराव भी चलता रहा । जब भी कहीं कुछ संगठित होता है तो वह शक्ति का केन्द्र बनता है । और शक्ति के भले बुरे दोनों ही उपयोग हो सकते हैं । यह सहज स्वाभाविक है ।

भारत में ऐसा कभी नहीं रहा । आप अगर हिन्दू हैं तो यहाँ आपको विश्वास की पूरी स्वतंत्रता हासिल है । आप चाहें तो ईश्वर में विश्वास कर सकते हैं और चाहें तो नहीं भी कर सकते हैं । आप किसी भी शास्त्र को मान सकते हैं या नहीं भी मान सकते हैं । कोई आपके हिन्दू होने का चुनौती नहीं देगा । लेकिन संगठित धर्मों में यह छूट नहीं है । उदाहरण के लिए अगर आप कैथोलिक ईसाई हैं और कहते हैं कि आपका ईसा में विश्वास नहीं है या ट्रिनिटि में यकीन नहीं है या चर्च की सत्ता नहीं स्वीकारते तो आप झंझट में पड़ जाएंगे । यह कहने वाले का विवाह रद्द हो जाएगा, उसके बच्चों के साथ गहरी समस्या उठ खड़ी होगी, परिवार में किसी की मृत्यु हो जाएगी तो उसे दफनाने नहीं दिया जाएगा । वहाँ जन्म के साथ ही व्यक्ति चर्च के अधीन है । जन्म से मृत्यु तक जीवन चर्च के या संगठन के अधीन है ।

ईसाइयत ही क्यों सभी संगठित धर्मों के साथ यही बात है । ईरान में या और दूसरे इस्लामी देशों में क्या हो रहा है । वहाँ लोगों का मुल्ला-मौलवियों के अनुसार अपना जीवन तय करना पड़ता है । इसमें ईसाइयत या इस्लाम का दोष नहीं है । दोष इन नाम पर हुए संगठनों का है । हिन्दू धर्म में ऐसी सख्ती नहीं आ पाई या उसका लचीलापन बना रहा तो कुछ वजह यह है कि यहाँ कोई संगठन खड़ा नहीं किया गया, कोई विधि निषेध निश्चित नहीं किए गए कि आपको अमुक ढंग से रहना है या अमुक ढंग से बैठना है, अमुक तरह से पूजा करना है या यहाँ जाना है और वहाँ नहीं जाना है । हिन्दू धर्म में पर्याप्त खुलापन है । इतना खुलापन कि आप चर्च जाना चाहें तो चर्च भी जा सकते हैं । मन्दिर जाना चाहें तो जा सकते हैं, नहीं जाना चाहें तो मत जाइए । अगर आप चाहें कि सिर्फ समाज सेवा ही करते रहें और इसके सिवा कोई धार्मिक अनुष्ठान नहीं करें तो इसकी भी छूट है । आपको कुछ और करना जरूरी नहीं । समाजसेवा करते हुए भी आप हिन्दू बने रह सकते हैं । यह स्वतंत्रता ही हिन्दू धर्म को खुला और जीवन्त बनाए हुए है । असल में आध्यात्मिक विकास केवल स्वतंत्रता से हो सकती है । जरा-जरा सी बातों में पाबंदियां जीवन को और आत्मिक चेतना को बांधती है ।

लेकिन ऐसा नहीं है कि यहाँ सब अच्छा ही अच्छा रहा । भारत की अपनी समस्याएं रहीं । शायद अति स्वतंत्रता के कारण उपजी । हमने स्वतंत्रता का इस्तेमाल इस रूप में भी किया कि धर्म और अध्यात्म के शिक्षण की चिन्ता करना ही छोड़ दिया । धीरे-धीरे धर्म का मौलिक स्वरूप ही गड़बड़ा गया । सोलहवीं शताब्दी में

धर्म और राजनीति का घालमेल होने लगा । एक समय था जब धर्म क्षेत्र से जुड़े लोग समाज का मार्गदर्शन करते थे । उनका काम मार्गदर्शन भर करना था । वे समाज से या सत्ता से कोई अपेक्षा नहीं करते थे । जैसे विश्वामित्र और दशरथ समाज के सामने या राज्य के सामने कोई समस्या आती थी तो वे गुरु के पास जाते थे । लेकिन गुरु उनसे मांग नहीं करता था । सोलहवीं शताब्दी के बाद राजसत्ता धर्म के मामलों में दखल देने लगी। गुरु या धर्मक्षेत्र से जुड़े लोग राजसत्ता से अपेक्षा करने लगे और स्थिति बिगड़ना शुरू हुई । फिर वह बिगड़ती ही गयी ।

- इन दिनों धर्मगुरुओं और भगवानों की बाढ़ सी आई हुई है । इनके बारे में आपकी क्या राय है ?

—आप जांचिए कि उनके अनुयायी कहाँ से आते हैं या कौन उनके शिष्य बनता है । आप पाएंगे कि उनके अनुयायी अपनी मर्जी से उनके पीछे आए हैं । कोई उन्हें जबरनं या प्रयत्नपूर्वक नहीं लाए । लोग क्यों उन धर्मगुरुओं और भगवानों के पीछे आते हैं । उन्हें कहीं न कहीं राहत मिलती है । इस तरह धर्मगुरुओं या भगवानों की आप चाहें जितनी निन्दा करें और वे चाहे जैसे हो, समाज में उनकी भूमिका है । उन्हें और ज्यादा होना चाहिए । इससे समाज का भला ही होगा ।

- ज्यादातर धर्मगुरु लोगों को अंधेरे में ही रखते हैं । वे उन्हें एक अन्धविश्वास थमाते हैं और उसके बल अपना स्वार्थ साधते रहते हैं ।

—पहली कक्षा में पढ़ाने वाले अध्यापक को ग्रेजुएट स्तर की पढ़ाई के लिहाज से देखें तो लगेगा कि वह प्राइमरी टीचर छात्र को अंधेरे में रख रहा है । लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है । बी० एससी० पढ़ाने वाला अध्यापक अगर पहली दूसरी कक्षा के छात्रों को पढ़ाने लगे तो वह घबड़ा जाएगा । उससे कुछ करते नहीं बनेगा । प्राइमरी अध्यापक को दूसरी कक्षा की जिम्मेदारी सौंपे तो उसे भी इसी दिक्कत का सामना करना पड़ेगा । यही बात धर्मगुरुओं के संबन्ध में भी कही जा सकती है । हर स्तर के धर्मगुरुओं की अपनी भूमिका है और जहाँ तक इस क्षेत्र में ठगी या धोखाधड़ी की समस्या है, वह सामाजिक बुराई है । ठगी जालसाजी सभी क्षेत्रों में है और धर्मशिक्षण के क्षेत्र में भी है ।

- आप ईश्वर के अस्तित्व में या सर्वोच्च सत्ता में विश्वास करते हैं ?

—अगर आप आत्मकथ्य के रूप में ही सुनना चाहें तो कहूँगा कि मैं ईश्वर में विश्वास करता हूँ। लेकिन यह सवाल बेमानी है क्योंकि मेरा विश्वास या मेरा अविश्वास आपकी कोई सहायता नहीं कर सकता । अपने प्रश्नों का समाधान खुद ही खोजना पड़ता है । यह सवाल ही असंगत है । मान लीजिए मैं कहता हूँ कि मैं विश्वास करता हूँ या नहीं करता हूँ तो आप यह नहीं पूछ सकते कि क्यों ?

फिर इस क्यों का कोई जवाब नहीं है ? और क्यों का जवाब दे भी दिया जाए तो और आगे सवाल खड़े किए जा सकते हैं ? इसलिए विश्वास के सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं होने चाहिए । खास तौर पर दूसरों के विश्वास के सम्बन्ध में ।

- आप अक्सर कोई आदर्श चुनने और उसे पाने के लिए प्राणपण से जुट जाने की बात कहते हैं । लेकिन क्या यह सही नहीं है कि कोई भी आदर्श यथार्थ में नहीं बदलता ।

—हर किसी को अपना आदर्श चुनना चाहिए और उसे पाने के लिए कोई कसर नहीं छोड़ना चाहिए । आपका चुना हुआ आदर्श ही आपको शक्ति देता है । उदाहरण के लिए आप कोई व्यवसाय चुनते हैं और उसमें कामयाबी को अपनी मंजिल बनाते हैं, उस कामयाबी को हासिल करने के लिए आप अपना सुख चैन छोड़ देते हैं या नहीं, कोई यकीन, सामाजिक मूल्य का किसी के प्रेम में पड़ना और उसे निबाहना भी आदर्श हो सकता है, जो भी आप चुनते हैं तो उसके रास्ते में कितनी ही बाधाएं आएं आप न तो उनके आगे झुकते हैं और न ही कोई समझौता करते हैं । यही दृढ़ता ही शक्ति देती है ।

आदर्श जितना उच्च और महान् होगा, उसे चुनने वाला व्यक्ति भी उतना ही उत्कृष्ट और महान् होगा । आदर्श का चुनाव करते ही उसकी जिंदगी बदलने लगेगी । उदाहरण के लिए महात्मा गांधी को ही लीजिए । एक अरसे तक वे बेहद मामूली आदमी रहे । उनकी कुल जमा उपलब्धि बैरिस्टरी पास रही । और बैरिस्टरी भी इसलिए पास कर. सके कि उसमें कोई फेल नहीं होता है ।

अफ्रीका से जब वे भारत लौटे तब भी उनकी हैसियत में कोई ख़ास फर्क नहीं आया था । लेकिन यहाँ आने के बाद उन्होंने भारत की आजादी को अपना लक्ष्य चुना । भारत के चालीस करोड़ लोगों की आजादी का लक्ष्य । और एक बार जब उन्होंने अपना लक्ष्य चुन लिया तो उसके लिए सब कुछ न्यौछावर कर दिया । अपने आदर्श के लिए सब कुछ उत्सर्ग कर चुकने के बाद गांधी का व्यक्तित्व कितना विराट और महान् हो गया । पांच सवा पांच फीट के कद वाली वह काया जिसमें बड़ा सा सिर था, लम्बे कान, ठीक से शब्दों का उच्चारण नहीं बन पाता था—यानी उस शख्सियत की हर बात बेहद मामूली थी और देखिए कैसा चमत्कार हुआ । उस आदमी के बिना आप अपने देश का इतिहास नहीं लिख सकते । गांधी का उल्लेख किए बिना भारत का इतिहास अधूरा है । गांधीजी में यह चमत्कार कहां से आया । चमत्कार उनके अपने चुने हुए आदर्श से जन्मा ।

स्वामी विवेकानन्द को देखिए । जब तक वह नरेन्द्र थे नितांत मामूली छात्र जिसके पास न रोजगार है, न परिवार है, न कोई काम करने की योग्यता । लेकिन जब उन्होंने एक आदर्श चुन लिया तो पांच साल के भीतर ही कमाल हो गया । उनका पूरा जीवन बदल गया । मामूली सा नरेन्द्र दुनिया भर में वंदनीय स्वामी विवेकानन्द के रूप में बदल गया ।

एक निहायत ही मामूली राजकुमार सिद्धार्थ । मैं तो कहूंगा कि निहायत नादान और नासमझ । जिस आदमी को अट्ठाइस साल की उम्र तक यह पता न हो कि बुढ़ापा भी आता है, आदमी बीमार भी पड़ता है, और मौत भी आती है उसे आप नादान या बेवकूफ ही तो कहेंगे । लेकिन जब उसने अपना आदर्श चुन लिया और उसे पाने में जुट गया तो वह मामूली और अज्ञानी राजकुमार दुनिया भर को सम्बोधित का संदेश देने वाला बुद्ध बन गया । एक समय एक तिहाई दुनिया उसकी अनुयायी थी । आज भी बुद्ध के अनुयायियों की बहुत बड़ी संख्या है । आशय यह कि आपके पास एक आदर्श होना चाहिए । इस आदर्श से आपके भीतर शक्ति का जागरण होता है ।

- **जरूरी है कि कोई आध्यात्मिक आदर्श ही हो, कोई राजनैतिक या सामाजिक आदर्श व्यक्ति के जीवन को नहीं बदल सकता ?**

—आदर्श कोई भी हो, वह जीवन को बदलता और उसे शक्तिशाली बनाता है । जरूरी नहीं कि राजनैतिक या सामाजिक आदर्श ही हो । वह कला के क्षेत्र में भी हो सकता है । एक बेहतर कलाकार बनने का आदर्श । वह संगीत में हो सकता है, पेंटिंग में भी हो सकता है । महत्त्वपूर्ण यह है कि आदर्श के जरिए आप अपने आपका अतिक्रमण करते हैं । ☐

मैं कौन हूँ ?

सच्चे गुरु की खोज में मूलशंकर (स्वामी दयानंद) भटकते हुए मथुरा पहुँचे । रात हो चुकी थी । वे प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानंद सरस्वती की कुटिया तक पहुँचना चाहते थे । एक राहगीर से रास्ता पूछा और मूलशंकर कुटिया तक पहुँचे । स्वामी दयानंद ने कुटिया के दरवाजे की साँकल को खटखटाया, तो अन्दर से प्रज्ञाचक्षु विरजानंद जी बोले कौन ?

स्वामी दयानंद ने उत्तर दिया—'मैं कौन हूँ ?' यही जानने के लिए आपके पास आया हूँ । दरवाजा खुला और दयानंद को विरजानंद जी ने गले लगा लिया ।

काशी मुमुक्षु भवन सभा, वाराणसी के अंतर्गत

दण्डी क्षेत्र, उत्तरकाशी

प्रगति-विवरण

काशी मुमुक्षु भवन सभा, दण्डी क्षेत्र, उत्तरकाशी में कलकत्ता निवासी श्री तोलाराम जी जालान द्वारा निर्माण कार्य कराये गये हैं । दण्डी क्षेत्र में तीर्थ यात्रियों के लिए १० कमरे, शौचालय, स्नानागार आदि आधुनिक साधन सुविधाओं से युक्त तैयार हो गये हैं । इसके साथ ही रसोईघर, भोजनकक्ष व कार्यालय भी तैयार हो गये हैं । इस हेतु दाता श्री तोलाराम जी जालान का लगभग ७ लाख रुपया लग चुका है । अब रसोईघर व कार्यालय के ऊपर प्रथम तल पर आधुनिक सुविधायुक्त ४ कमरे, शौचालय तथा स्नानागार सहित बनाने की योजना है । यह भी श्री तोलाराम जी जालान द्वारा ही निर्मित कराया जायगा । क्षेत्र के सामने भव्य मुख्य द्वार, बगीचा तथा कार पार्किंग की व्यवस्था की ज़ा रही है ।

भागीरथी के तट पर स्थित यह स्थान उत्तरकाशी में अद्‌भुत होगा । यहाँ १०० तीर्थ यात्री रह सकेंगे । दण्डी क्षेत्र में निरन्तर अन्न क्षेत्र से सन्तों को मधुकरी दी जाती है जिसमें आजकल ७५ सन्त मधुकरी ग्रहण कर रहे हैं । निकट भविष्य में दण्डी स्वामियों को बैठाकर भोजन कराने की व्यवस्था की जा रही है ।

इसी संस्था के अन्तर्गत उजेली शाखा में सन्त निवास का निर्माण हो गया है । जहाँ एक ब्लाक का निर्माण श्रीमती शान्तिदेवी बागला व श्रीमती बसन्तीदेवी बागला कलकत्ता निवासी के द्वारा किया गया है जिसमें ५ सन्त निवास कर सकेंगे । दूसरे ब्लाक का निर्माण खुर्जा निवासी महेशकुमार जी जटिया द्वारा कराया गया है इसमें ४ सन्त निवास कर सकेंगे । तीसरे सन्त निवास का निर्माण हावड़ा (कलकत्ता) निवासी श्री गजानन्द जी कानोड़िया द्वारा कराया गया है । इसमें ५ सन्त निवास कर सकेंगे । इसके अतिरिक्त यहाँ पहले से भी कुटिया बनी हुई है । यहाँ पर लगभग २५ सन्त रहकर साधना कर सकेंगे । इसके अतिरिक्त उजेली में सन्तों हेतु ८ कुटिया की और आवश्यकता है जिसमें प्रत्येक कुटिया पर अनुमानित व्यय २० हजार रुपया होगा । उजेली में ही चार कमरों की दो मंजिला एक पुरानी कुटिया है जो १९९१ के विनाशकारी भूकम्प से क्षतिग्रस्त हो गयी है । इस कुटिया में रहकर पूज्य श्री घनश्यामानन्द जी, पूज्य श्री लाट स्वामी, पूज्य श्री माधवानन्द जी आदि उच्च कोटि के सन्तों ने साधना की है । यह मकान विभूतियों की साधना स्थली है, यह अमूल्य धरोहर है । इसके क्षतिग्रस्त भाग की मरम्मत कराकर इसको इसी रूप में रखने का विचार है, इसका अनुमानित व्यय पचास हजार रुपया होगा । साधकों के लिए यह बहुत ही उपयुक्त स्थान है । यहाँ से सामने श्री गंगाजी का दर्शन होता रहता है । जो भी साधक साधना करना चाहें उनके निवास आदि का प्रबन्ध है, उनका स्वागत है ।

तीर्थयात्री जो उत्तरकाशी में पधारें उनके ठहरने की उचित व्यवस्था है, पधारने पर स्वागत है । इस वर्ष अनेक तीर्थयात्री आये हैं, उन्होंने यहाँ की व्यवस्था की सराहना की है ।

इस वर्ष तीर्थयात्रियों से ५ पैडीस्टल फैन, श्री ईश्वरचन्द सारदा देवी २९/३ शक्तिनगर देहली द्वारा, २ सीलिंग फैन, श्रीमती सारदादेवी खेकड़ा निवासी द्वारा, १ सीलिंग फैन, श्री यशोदानन्द अग्रवाल बदायूँ निवासी द्वारा, १ सीलिंग फैन, श्री भीमसेन गुलाठी देहली द्वारा प्राप्त हुआ है । एक लाऊड स्पीकर श्री रमेश जी अग्रवाल, फोरजिंग इण्डिया प्रा० लि०, हावड़ा द्वारा प्राप्त हुआ है । १० नग गद्दा श्री मोहनलाल सत्यनारायण अग्रवाल हावड़ा व २५ नग कम्बल श्री सूर्यकान्त जी जालान वाराणसी, २० कम्बल श्री मदनलाल रमाकान्त हावड़ा वालों से तीर्थयात्रियों के उपयोगार्थ प्राप्त हुआ है तथा अन्न क्षेत्र में भण्डारा भी तीर्थयात्रियों द्वारा कराया गया है ।

संस्था की भावी आवश्यकतायें

काशी मुमुक्षु भवन सभा दण्डी क्षेत्र में एक डॉरमेट्री (हाल कमरा) १२०० वर्गफुट आकार की शौचालय तथा स्नानागार से संलग्न बनाने की योजना है । इस पर अनुमानित दो लाख सत्तर हजार रुपये व्यय आयेगा । इसी के ऊपर
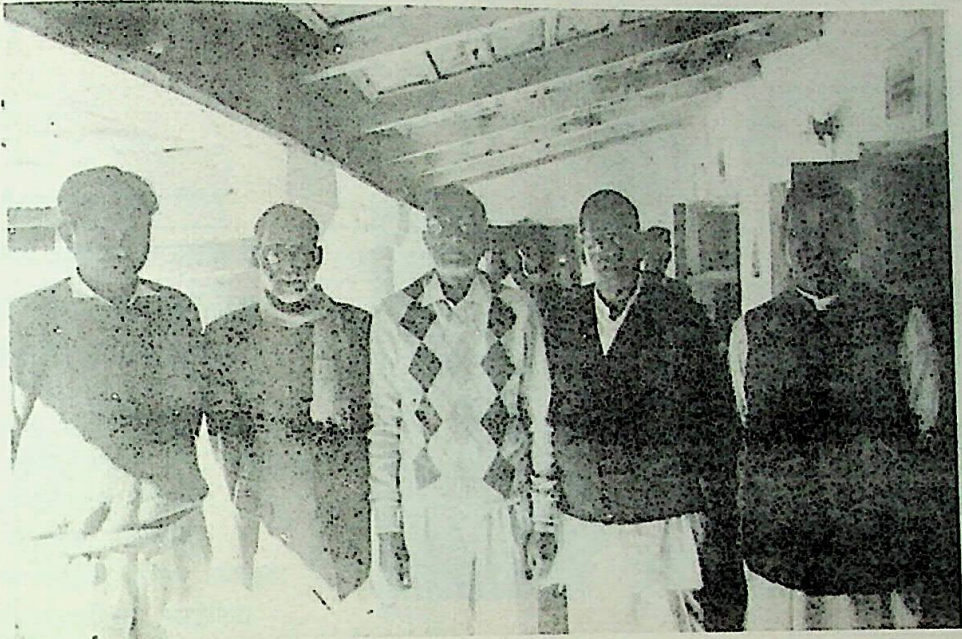
उत्तरकाशी में

बाँए से : श्री रमेश गोयल (सं० मंत्री, दण्डी क्षेत्र)
श्री प्रहलाद राय गोयनका (अंतरंग सदस्य, दण्डी क्षेत्र)
श्री नंदलाल टांटिया (ट्रस्टी, काशी मुमुक्षु भवन सभा)
श्री सत्यनारायण अग्रवाल (संयुक्त मंत्री, काशी मुमुक्षु भवन सभा)
श्री सुरेन्द्र चौबे (प्रवन्धक, दण्डी क्षेत्र, मुमुक्षु भवन, उत्तरकाशी)

प्रथम तल पर तीन कमरे स्नानागार से संयुक्त बनाने हैं जिसमें प्रत्येक कमरे पर अनुमानित १० हजार रुपये व्यय होंगे तथा चारों ओर बाउन्ड्री, भव्य मुख्य द्वार, कार पार्किंग, बगीचा आदि बनना है जिस पर लगभग एक लाख पच्चीस हजार रुपये व्यय होंगे ।

भूकम्प में केदारघाट स्थित इस संस्था की एक दो मंजिल की धर्मशाला पूर्ण रूप से ध्वस्त हो गयी थी, उसका भी नवनिर्माण होना है । उसमें प्रत्येक तल पर २५x१५ फुट के आधुनिक सुविधायुक्त ४ कमरे तीर्थयात्रियों के आवास हेतु बनने हैं । प्रत्येक कमरे पर अनुमानित एक लाख रुपये खर्च आयेगा । इसके अतिरिक्त संस्था के दण्डी बाडा में खाली भूमि है, वहाँ भी तीन कमरे बनाने की योजना है ।

यात्राकाल में उत्तरकाशी में बहुत से तीर्थयात्री आते हैं । रहने के लिये धर्मशालाओं में स्थान सीमित है, स्थान के अभाव में तीर्थयात्रियों को खुले आकाश के नीचे सड़क पर ही रात्रिविश्राम करना पड़ता है । आगामी वर्ष सौभाग्य से उत्तरकाशी में पूज्य सन्त श्री मुरारी बाबू की रामकथा का आयोजन होने जा रहा है, अतः इस कारण बड़ी संख्या में तीर्थयात्री आयेंगे । अतः उदारमना महानुभावों से अनुरोध है कि उपरोक्त निर्माण में शीघ्र सहयोग देने की कृपा करें, ताकि रामकथा के समय यात्री इसका लाभ उठा सकें ।

तीर्थयात्रियों से संस्था कोई शुल्क नहीं लेती । जो साधन संस्था के पास उपलब्ध हैं उससे उनका स्वागत है । तीर्थयात्रियों से दानस्वरूप स्वेच्छा से जो प्राप्त हो जाता है, स्वीकार किया जाता है ।

अन्न क्षेत्र व सन्त सेवा पर प्रत्येक माह १०-१२ हजार रुपया खर्च आता है जिसके लिए स्थायी कोष की अत्यन्त आवश्यकता है । ☐
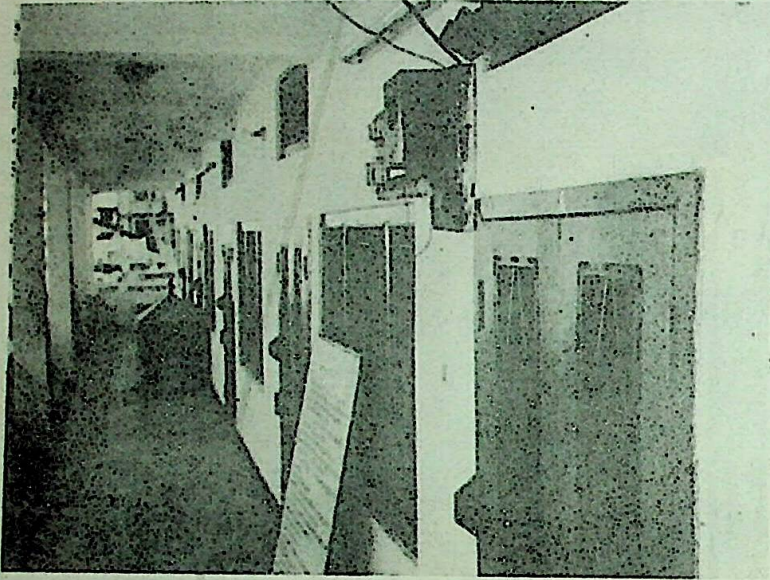
दण्डी क्षेत्र, उत्तरकाशी
श्री तोलाराम जालान, कलकत्ता
द्वारा नवनिर्मित यात्री निवास
स्नानघर, रसोई आदि से
संयुक्त

संत निवास, उजेली, उत्तरकाशी
दो कमरे भूतल पर और तीन कमरे प्रथम तल पर
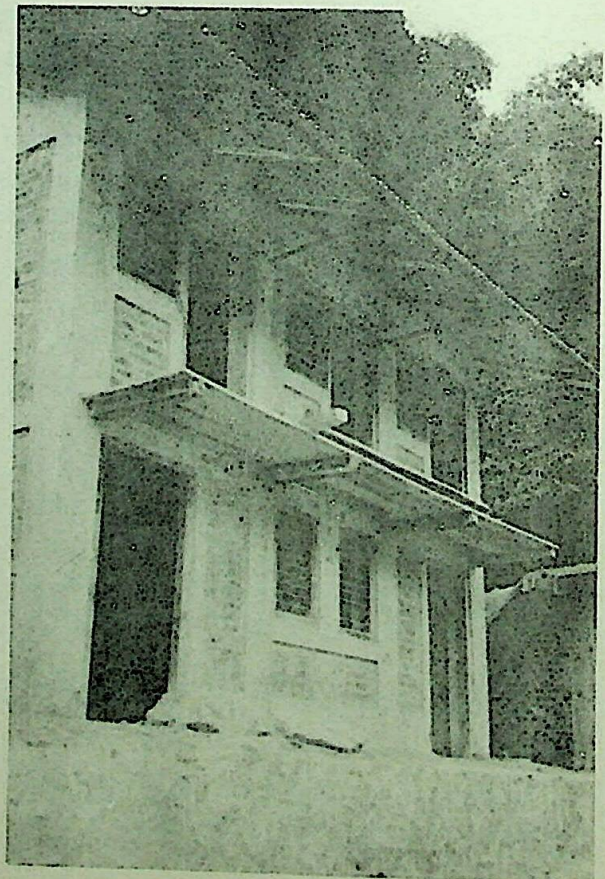
काशी मुमुक्षु भवन सभा, वाराणसी

शाखा–दण्डी क्षेत्र, उत्तरकाशी

अन्न क्षेत्र में हुए भण्डारा विवरण

मार्च १९९३ से अगस्त १९९३

नाम	कच्चा/पक्का	विष्टी/समष्टी	दिनांक
१. श्री रामप्रसादजी, उत्तरकाशी	कच्चा	विष्टी	५-३-९३
२. जिन्दल चेरीटेबुल ट्रस्ट ६ शंकराचार्य मार्ग, दिल्ली	५,००० रु० अन्न क्षेत्र सहायता		१२-३-९३
३. स्वामी रामानन्द तीर्थ शिष्य स्वामी हंसानन्द तीर्थ, उत्तरकाशी	कच्चा	समष्टी	१४-३-९३
४. श्री देवेन्द्रदत्त नौटियाल गणेशपुर, उत्तरकाशी	पक्का	समष्टी	१७-३-९३
५. श्री नन्दलाल टांटिया, कलकत्ता	पक्का	समष्टी	१३.२.९३
६. श्री बनवारीलाल लाखोटिया नई दिल्ली	कच्चा	विष्टी	२३.५.९३
७. श्रीमती कमलादेवी वियाणी	कच्चा	विष्टी	२४.५.९३
८. श्री हरिकृष्ण गोपीकृष्ण, गुलबर्गा	कच्चा	विष्टी	२६.५.९३
९. सेठ किशोरीलाल सेवा ट्रस्ट वाराणसी	कच्चा	विष्टी	२८.५.९३
१०. श्री रामेश्वरप्रसाद धर्मपतिक कोशिक, नई दिल्ली	कच्चा	विष्टी	१.६.९३
११. श्री अमिता गुप्ता २६/३ शक्तिनगर दिल्ली	पक्का	विष्टी	५.६.९३
१२. श्री सत्यनारायण अग्रवाल काशी मुमुक्षु भवन सभा, वाराणसी	कच्चा	विष्टी	६.६.९३
१३. श्री रामकरन दास रामनिवास नरेला मण्डी, दिल्ली	२१०० रु० अन्न क्षेत्र स्थायी कोष हेतु		८.६.९३
१४. श्री विष्णुप्रसादजी बद्रीनारायणजी श्री बल्लभ जी, राजस्थान	कच्चा	विष्टी	१३.६.९३
१५. श्री प्रदीपनारायण मेहरा २/७ अंसारी रोड, दिल्ली	कच्चा	विष्टी	२०.६.९३
१६. स्वामी गोविन्दहरिजी महाराज बीकानेर, राजस्थान	कच्चा	विष्टी	२१.६.९३
१७. श्री श्यामबाबू अग्रवाल कम्पू बस स्टैण्ड, ग्वालियर	कच्चा	विष्टी	१.७.९३
१८. श्री सतीशचन्द्र मित्तल कुट्टी देवी, उत्तरकाशी	कच्चा	विष्टी	११.७.९३

दाताओं के अनुदान से निर्मित भवनों पर शिलापट्ट
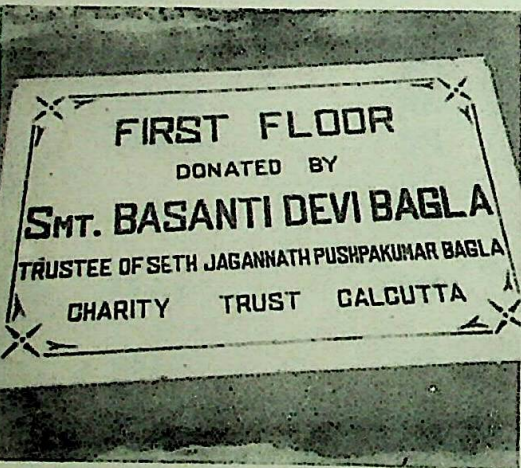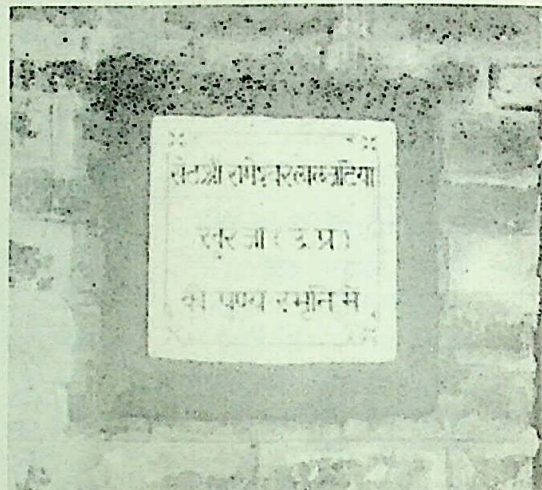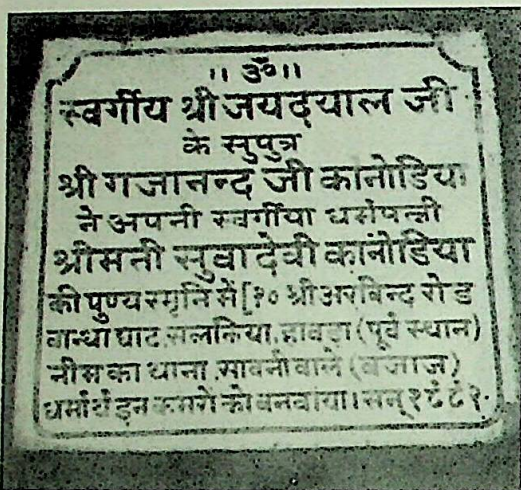
१९.	रामा सेवा संघ ए-२२२ कर्मपुरा, नई दिल्ली	५,००० रु० अन्न क्षेत्र सहायता		१३.८.९३
२०.	मे० प्यारेलाल एण्ड ब्रदर्स भटवाड़ी रोड, उत्तरकाशी	कक्षा	विष्टी	१३.८.९३
२१.	श्री शिवप्रसाद नौटियाल तिलोध, उत्तरकाशी	कक्षा	विष्टी	२०.८.९३
२२.	श्री सतीशचन्द्र मित्तल पुत्र श्री बृजभूषणजी मित्तल, सहारनपुर	कक्षा	विष्टी	२९.८.९३

पश्चिम में पूर्व का तेजस्वी उद्‌बोधन

स्वामी श्री रंगनाथानन्द

भारत ने कभी किसी देश पर राजनैतिक वर्चस्व कायम नहीं किया । इसके बावजूद उसने दुनिया को प्रभावित किया । वह प्रभाव आध्यात्मिक और सांस्कृतिक था । राजनैतिक दृष्टि से तो भारत ने अपने इस हिस्से को प्रभावित करने की भी चेष्टा नहीं की जो १९४७ में अलग हुआ और पाकिस्तान बना । वह क्रमशः ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, सोवियत संघ और चीन के प्रभाव में रहा । इन देशों के प्रभाव को उसने अपनी आवश्यकता के अनुसार अपनाया । भारत ने कभी अपना प्रभाव जमाने की कोशिश नहीं की लेकिन उसके आध्यात्मिक आदर्शों को हमेशा अपनाया गया । हम दूर इतिहास में न झांकें । आज़ादी के बाद की कुछ घटनाओं को ही देखें । दुनिया ने देखा कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत ने अहिंसक लड़ाई लड़ी और स्वतंत्रता प्राप्त की । १९४७ के बाद और देशों तथा लोगों ने भी अहिंसा का रास्ता अपनाया । जैसे १९५० में बर्टेंड रसेल ने परमाणु निरस्त्रीकरण आन्दोलन के लिए अहिंसा के उपयोग का विचार किया । अमेरिका में रंगभेद के खिलाफ लड़ाई में वहाँ के नीग्रो लोगों का एक पूरा अपने अधिकार की लड़ाई अहिंसक उपायों से लड़ रहा है । कैलिफोर्निया में पिछले दिनों कैसर शेवेज के नेतृत्व में किसा आन्दोलन सफलता पूर्वक चला । यह आन्दोलन 'सत्याग्रह' से प्रेरित था । शेवेज ने अपने दफ्तर में महात्मा गांधी की तस्वीर लगा रखी है । इस तरह भारत ने हमेशा अपने आदर्शों और आध्यात्मिक मूल्यों का विस्तार किया ।

जब हम स्वामी विवेकानन्द को भारत की आध्यात्मिकता का संदेशवाहक कहते हैं, तो हमें दो बातों का ध्यान रखना चाहिए । एक, यह कि जिस समय वे पश्चिम की यात्रा पर रवाना हुए उस समय भारत ब्रिटेन जैसे देश के अधीन था । दूसरे, उन्हें किसी केन्द्रीय धार्मिक संगठन या सम्प्रदाय ने अपना प्रतिनिधि बनाकर नहीं भेजा । इस कारण उन्हें शिकागो धर्म महासभा में प्रवेश पाने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा । किसी सभा संस्था की बजाय मद्रास के कुछ उत्साही युवकों ने आपस में चन्दा कर स्वामीजी को शिकागो भेजने का प्रबन्ध किया था । ये लोग स्वामी जी के भक्त थे । और समझते थे कि भारतीय धर्म का प्रतिनिधित्व अधिक कुशलता से कर सकते हैं । इन युवकों के अगुआ अलासिंगा पेरुमल ने जब स्वामी जी के सामने पश्चिम यात्रा का प्रस्ताव रखा तो उन्होंने 'मां की इच्छा' समझ कर इसे मान लिया ।

३१ मई १८९३ को स्वामी विवेकानन्द बम्बई बन्दरगाह से एक स्टीमर पर सवार हुए । कोलम्बो, पेनाग, सिंगापुर, हांगकांग, केंटन, नागासाकी, कोबो, ओसाका, क्योटो, टोक्यो और योकोहामा होते हुए वैंकोवर पहुँचे । वहाँ से जुलाई १८९३ में ट्रेन से शिकागो पहुँचे । तब से धर्म महासभा में ११ सितम्बर १८९३ को पहला व्याख्यान देने तक उन्हें कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । पहुँचते ही उन्हें धर्म महासभा के दफ्तर से पता चला कि वह सितम्बर से पहले शुरू नहीं होगा । फिर यह कि भारत से किसी धार्मिक संगठन ने उन्हें प्रतिनिधि बनाकर नहीं भेजा है तो उन्हें शामिल नहीं किया जा सकता । उन्होंने भारत में अपने कुछ मित्रों को लिखा पर कोई मदद के लिए नहीं आगे आए । एक बार तो

स्वामीजी सोचने लगे कि मद्रास के उन भावुक युवकों का प्रस्ताव मानकर कहीं गलती तो नहीं की । पर इन कठिनाइयों से उनका मनोबल नहीं टूटा । वे सोचते कितनी भी कठिनाइयां आएं हार नहीं मानेंगे । अमेरिका में सफलता नहीं मिली तो इंग्लैण्ड में काम करेंगे । वहाँ भी सफल नहीं हुए तो भारत जाकर काम करेंगे ।

शिकागो महंगा शहर था । स्वामी विवेकानन्द के पास सीमित राशि थी । उसे ज्यादा दिन तक चलाने के लिहाज से वे शिकागो छोड़ कर बोस्टन चले गए जो अपेक्षाकृत सस्ता था । ट्रेन में उनका परिचय अपनी एक सहयात्री मिस केट सेनबोर्न से हुआ। सेनबोर्न उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुई और उसने स्वामी विवेकानन्द को अपने घर आने का निमंत्रण दिया । मैसाच्युट्स में मेटकाफ स्थित सेनबोर्न के घर 'ब्रीजी मीडाज' में रहने लगे । उन्हें यह लाभ हुआ कि उनके गिने चुने पैसे बचने लगे । और सेनबोर्न के लिए स्वामी जी भारत से आए एक संन्यासी थे जिन्हें वह अपने मित्रों को दिखा सकती थी । स्वामी विवेकानन्द को कई अप्रिय स्थितियों का सामना करना पड़ा । वे सड़क पर गुजरते तो लोग खिल्ली उड़ाते । उनकी संन्यासी की वेशभूषा देखकर तरह-तरह के फिकरे कसते । एक बार उन्हें एक स्थानीय महिला क्लब ने भाषण के लिए आमंत्रित किया । उनका भाषण सफल रहा और कुछ लोग उनके काम में रुचि लेने लगे ।

वहाँ रहते हुए मिस सेनबोर्न ने डॉ० जे० एच० राइट से उनका परिचय कराया । वे हार्वर्ड विश्वविद्यालय में यूनानी के प्रोफेसर थे । प्रोफेसर राइट और स्वामी विवेकानन्द करीब चार घंटे तक बातचीत करते रहे । इस बातचीत में राइट भारत के इस युवा संन्यासी की प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए । उन्होंने स्वामी को धर्म महासभा में भाग लेने का सुझाव दिया । स्वामीजी ने कहा कि वे किसी संस्था के अधिकृत प्रतिनिधि नहीं हैं । प्रोफेसर राइट ने इस पर कहा आपके लिए अधिकृत प्रतिनिधि होने की शर्त सूर्य से अपनी चमक का प्रमाण मांगने की तरह है । प्रोफेसर राइट इतना कहकर ही चुप नहीं रह गए बल्कि उन्होंने तत्काल धर्म महासभा के अध्यक्ष को एक पत्र लिखा । इसमें उन्होंने स्वामी का परिचय देते हुए कहा—यह एक ऐसी शख्सियत हैं जो हमारे तमाम प्रोफेसर से अकेला ज्यादा विद्वान् हैं । इतना ही नहीं प्रोफेसर राइट ने उनके लिए शिकागो तक का रेल टिकट भी कटा दिया ।

स्वामीजी को प्रो० राइट की यह सहायता दैवी वरदान की तरह लगी । उन्हें लगा कि जिस काम के लिए वे यहाँ आये हैं वह पूरा हुआ ही जा रहा है । लेकिन अभी तो और परीक्षा बाकी थी । वे शिकागो रेल स्टेशन पर उतरे तो देखा प्रो० राइट ने धर्म महासभा के अध्यक्ष के नाम जो पत्र लिखकर दिया था वह खो गया है । उसी पत्र में महासभा के दफ्तर का पता भी था । पास गुजर रहे एक व्यक्ति से उन्होंने कुछ पूछा लेकिन वह समझ नहीं पाया । शहर के जिस इलाके में स्वामी विवेकानन्द उतरे थे वह जर्मन लोगों की बस्ती थी । कुछ और लोगों से पूछा पर कोई सार नहीं निकला । रात बढ़ने लगी थी और स्वामीजी 'अब सुबह देखने' की बात सोच कर सोने की जगह ढूंढ़ने लगे । कहीं जगह नहीं मिली । गलियारे में एक खाली बक्स पड़ा देख कर वे उसी में सो गए । सुबह हुई । वे जागे और अपना ठिकाना तलाशने स्टेशन से बाहर आए । भूख भी लग रही थी । स्वामीजी ने कई घरों के दरवाजे खटखटाए पर किसी ने उन पर ध्यान नहीं दिया । कुछ घरों में तो उन्हें देखते ही दरवाजे बन्द कर दिए गए । कुछ जगह उन्हें दुत्कारा भी गया । काफी देर तक जगह-जगह भटक कर वे थक गए तो सड़क के एक किनारे बैठ कर सुस्ताने लगे । संयोग से जहाँ वे बैठे थे, उसके सामने वाले घर की खिड़की से एक महिला ने झांका । स्वामीजी को देखकर वह बोली—'शायद आप कुछ परेशान हैं ।'

फिर उनकी वेशभूषा पर गौर करते हुए उसने पूछा—'कहीं आप धर्म महासभा में भाग लेने तो नहीं आए हैं । मैं आपकी कुछ मदद कर सकती हूँ ।' स्वामी विवेकानन्द ने उस महिला को अपनी गाथा सुनाई । वह उन्हें घर में ले गई, उनके लिए स्नानादि का प्रबन्ध किया । और बाद में वह उन्हें धर्म महासभा के दफ्तर भी ले गई जहाँ वे प्रतिनिधि के तौर पर सम्मिलित होने के लिए आश्वस्त किए गए ।

उस महिला का नाम था मेरी डब्लू हेल । वह और उसके पति स्वामीजी के अभिन्न मित्र बन गये । उनके बच्चे भी काफी मिल गए । बाद में ये लोग स्वामीजी के शिष्य बन गए थे । स्वामी विवेकानन्द जब तक शिकागो में रहे तब तक हेल परिवार का निवास स्वामी विवेकानन्द के लिए ठहरने का मुकाम रहा ।

धर्म महासभा विश्व इतिहास की अनोखी घटना थी जिसमें दुनिया के सभी धर्म करीब आ रहे थे उनमें आपसी समझ और सम्बन्धों की बुनियाद रखी जा रही थी । हिन्दू धर्म के लिए तो यह और भी अनूठा अवसर था क्योंकि हजारों वर्ष के इतिहास में पहली बार वह इस तरह दुनिया के सामने खुल रहा था । धर्म महासभा आरम्भ होने तक स्वामी विवेकानन्द को वहां मुश्किल से कोई जानता था । एक प्रसिद्ध अमेरिकी लेखक ने उस समय का वृत्तान्त लिखते हुए कहा है—११ सितम्बर की सोमवार की सुबह १० बजे तक आर्ट इंस्टीट्यूट (जहाँ यह आयोजन हो रहा था) में स्वामी विवेकानन्द को वहाँ मुश्किल से ही गिने चुने लोग ही जानते थे । हाल आफ कोलम्बिया के मंच पर एक अरब बीस करोड़ लोगों के धर्मों का प्रतिनिधित्व करने वाले लोग बैठे थे । वास्तव में बहुत रोमांचक और ऐतिहासिक अवसर था । सबके बीच में पश्चिमी रोमन कैथोलिक चर्च के कार्डिनल गिब्बन बैठे थे । प्रार्थना करते हुए आरम्भ उन्हीं ने किया । इनमें ब्रह्मसमाज से नागरकर, सीलोन से धर्मपाल (बौद्ध धर्म), भारत से मजूमदार आदि थे । धर्म महासभा में बोलने वाले विद्वानों में स्वामी विवेकानन्द का नम्बर इकतीसवां था ।

शुरू दिन स्वामी विवेकानन्द को बोलने के लिए कई बार पुकारा गया । लेकिन उन्होंने अपनी बारी देर तक नहीं आने दी । नहीं, अभी नहीं; कह कर वे टालते रहे । उस समय का वर्णन करते हुए स्वामीजी ने अपने एक शिष्य को पत्र में लिखा था—'संगीत, प्रारम्भिक भाषण आदि औपचारिकताओं के साथ सभा का कार्य आरम्भ हुआ । एक-एक कर प्रतिनिधियों का सभा में परिचय कराया गया । इधर मेरी छाती धुक्-धुक् कर रही थी और जीभ सूख रही थी । मैं इतना घबड़ा गया कि अपने भाषण कर सकने का भरोसा तक टूटने लगा । मजूमदार ने अच्छा भाषण दिया । चक्रवर्ती और भी सुन्दर बोले । खूब तालियां बजीं । ये सभी अपना भाषण तैयार करके लाए थे । मैंने कुछ भी तैयार नहीं किया था ।' स्वामी विवेकानन्द का संकोच देखकर सभापति हैरान थे कि वे बोलेंगे भी या नहीं । और नहीं बोलेंगे तो यहाँ किसलिए आए हैं ? उन्हें फिर पुकारा गया । अब कोई चारा न देख स्वामी जी उठे । उन्होंने देवी सरस्वती का स्मरण किया । उनके व्यक्तित्व और वेश को देखकर सभा में बैठे लोग मुग्ध से थे । हाल में नीरव शान्ति छाई थी । अपने गुरु और भगवती सरस्वती का मन ही मन स्मरण करते हुए उन्होंने श्रोताओं को सम्बोधित किया—'अमेरिकावासी भाइयों एवं बहिनों ।' उनका इतना कहना था कि सभागार तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज उठा । आलीयता पूर्ण यह सम्बोधन श्रोताओं के लिए अद्वितीय अनुभव था और वे गद्‌गद् से हो उठे थे । शुरू दिन स्वामीजी ने केवल धन्यवाद दिया और 'शिवमहिम्नस्तोत्र' तथा 'भगवदगीता' से एक-एक श्लोक सुनाए । इन श्लोकों का भाव यह था

कि सभी मार्ग एक ही गंतव्य परमात्मा की ओर ले जाते हैं ।

११ सितम्बर को शुरू होकर धर्म महासभा २७ सितम्बर तक चली थी । इस अवधि में स्वामी विवेकानन्द ने करीब बारह भाषण दिए । इनमें 'हमारे मतभेद के कारण', 'धर्म भारत की आवश्यकता नहीं', 'बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म की निष्पत्ति' आदि की खूब चर्चा हुई । इन व्याख्यानों के अलावा उन्होंने 'हिन्दूधर्म' पर एक निबन्ध भी पढ़ा । १६ सितम्बर को पढ़े गये इस निबन्ध में स्वामीजी ने हिन्दूधर्म की आधारभूत मान्यताओं को संक्षेप में किन्तु बेहद प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया । समापन भाषण में उन्होंने कहा कि दुनिया में धर्मों की एकता का मार्ग खुल गया है ।

धर्म महासभा में स्वामी विवेकानन्द की भागीदारी इतनी प्रभावोत्पादक रही कि शिकागो में सड़कों और चौराहों पर उनकी आदमकद तस्वीरें लग गईं । अखबारों ने उन्हें देवदूत और रहस्यदर्शी लिखा । 'न्यूयार्क हेराल्ड' ने स्वामी विवेकानन्द का परिचय देते हुए लिखा असंदिग्ध रूप से वे धर्म महासभा में सबसे महान् थे । उन्हें सुनने के बाद लगा कि हम लोग कितने मूर्ख हैं जो इस संन्यासी के देश में धर्म की शिक्षा देने के लिए मिशनरी भेजते हैं । 'बोस्टन इवनिंग ट्रांसक्रिप्ट', 'द रिव्यू ऑफ रिव्यू' आदि अखबारों की भी यही राय थी ।

महासभा में भारतीय अध्यात्म की विजय पताका फहराने के बाद शिकागो में कई जगह उनके व्याख्यान हुए । फिर शिकागो के बाहर और जगहों भी उन्होंने भाषण दिए । इन व्याख्यानों से उन्हें आमदनी भी होती थी । इतनी ज्यादा आमदनी होने लगी कि रोम्यां रोलां के शब्दों में अमेरिकी शान शौकत उनके पीछे हाथ धोकर पड़ गयी । पर स्वामी विवेकानन्द का मन इस समृद्धि में असुविधा अनुभव करने लगा । वे रात को बिस्तर पर लेटे-लेटे अपने भूखे प्यासे भारतवासियों का ध्यान करते और कभी-कभी तो चीखते हुए उठ बैठते, जमीन पर लोट लगाने लगते थे । वे कराह कर पुकारते 'मां इस कीर्ति को लेकर मैं क्या करूंगा । मेरी मातृभूमि तो निर्धन और कंगाल है । मेरे लाखों भाई मुट्ठी भर चावल के लिए तड़पते हैं और यहाँ देखो लोग लाखों रुपया उड़ा देते हैं । मेरे भूखे-प्यासे भाइयों का क्या होगा ? उनके अभाव कौन दूर करेगा ? उन्हें कौन सुखी बनाएगा ? मैं क्या करूं मां, मैं क्या करूं ?

धर्म महासभा के बाद स्वामी विवेकानन्द दो वर्ष तक अमेरिका में वेदान्त का प्रचार करते रहे । अगस्त १८९५ में वे इंग्लैण्ड आ गए । कुछ महीनों वहाँ रहने के बाद वे फिर अमेरिका आ गए । १८९६ में वे भारत वापस लौटते हुए उन्होंने एक बार फिर इंग्लैण्ड की यात्रा की थी । इस प्रवास में कई विद्वानों से उनकी भेंट हुई । इंग्लैण्ड में मैक्स मूलर, जर्मनी के पाल डायसन और अमेरिका के विलियम जेम्स इनमें मुख्य हैं । इंग्लैण्ड में उन्हें चार मेधावी शिष्य मिले जिन्होंने उनके वेदान्त के काम को आगे बढ़ाया । इनमें एक मारग्रेट नोबल तो भारत ही आ गयी थीं । भगिनी निवेदिता के रूप में उन्हें हम सभी जानते हैं । सोवियत दम्पत्ति भी भारत आ गए थे और उन्होंने मायावती (पिथौरागढ़) में अद्वैत आश्रम की नींव रखी थीं ।

धर्म महासभा सम्पन्न होने के नौ वर्ष बाद ही स्वामी विवेकानन्द महासमाधि में लीन हो गए । लेकिन इस अवधि में ही उन्होंने भारतीय अध्यात्म को दिग्विजयी बना दिया । रोम्यां रोलां ने उनके संदेश को रेखांकित करते हुए लिखा है—'पूर्व और पश्चिम दोनों को एक दूसरे की जरूरत है । दोनों आत्मा के दो शिखर हैं ।' भारत के लिए उनका संदेश उपनिषद् के ऋषि की यह शाश्वत वाणी थी जिसने गाया है—'उठो, जागो और अपने लक्ष्य को जब तक प्राप्त नहीं कर लो, चलते रहो ।' ☐

विश्व धर्मसभा शिकागो में

स्वामी विवेकानन्द के दो भाषण

किसी न किसी महापुरुष की जन्मशताब्दी प्रतिवर्ष मनाई जाती है । किन्तु किसी महापुरुष के व्याख्यान तिथि की शताब्दी सम्भवतः विश्व में पहली बार मनाई जा रही है । यह शताब्दी है स्वामी विवेकानन्द के ११ से २७ सितम्बर के मध्य शिकागो अमेरिका में विश्व धर्मसभा में दिये गये छह व्याख्यानों की स्मृति में । स्वामीजी के इन व्याख्यानों ने विश्व में भारत को प्रतिष्ठित किया । भारतवर्ष के सम्बन्ध में पश्चिम की जो भ्रान्तियाँ थीं उसे दूर की और भारत के आध्यात्मिक विवेक सर्वधर्म समभाव और मानवीय चेतना को प्रतिष्ठित किया । यहाँ स्वामी विवेकानन्द जी के दो भाषणों के प्रमुख अंश प्रस्तुत हैं ।

पहला भाषण
११ सितम्बर, १८९३

अमेरिकावासी बहनों और भाइयों, आपने जिस सौहार्द और स्नेह के साथ हम लोगों का स्वागत किया, उसके प्रति आभार प्रकट करने के निमित्त खड़े होते समय मेरा हृदय अवर्णनीय हर्ष से परिपूरित हो रहा है । संसार में संन्यासियों की सबसे प्राचीन परम्परा की ओर से मैं आपको धन्यवाद देता हूँ, धर्मों की माता की ओर से धन्यवाद देता हूँ और सभी मतों एवं सम्प्रदायों के कोटि-कोटि हिन्दुओं की ओर से भी धन्यवाद देता हूँ ।

मैं इस मंच से बोलने वाले उन कतिपय वक्ताओं के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने प्राच्य प्रतिनिधियों का उल्लेख करते समय आपको यह बतलाया है कि सुदूर देशों के ये लोग विविध देशों में सहिष्णुता का भाव प्रसारित करने के गौरव का दावा कर सकते हैं । मैं एक ऐसे धर्म का अनुयायी होने में गर्व का अनुभव करता हूँ, जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सार्वभौम स्वीकृति, दोनों की ही शिक्षा दी है । हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, वरन् समस्त धर्मों को सच्चा मानकर स्वीकार करते हैं । मुझे एक ऐसे देश का नागरिक होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी के समस्त धर्मों और देशों के उत्पीड़ितजनों और शरणार्थियों को आश्रय दिया है । मुझे आपको यह बतलाते हुए गर्व होता है कि हमने अपने वक्ष में यहूदियों के विशुद्धतम अवशिष्ट हुए अंश को स्थान दिया, जिन्होंने दक्षिण भारत आकर उसी वर्ष शरण ली थी, जिस वर्ष उनका पवित्र मन्दिर रोमनों के अत्याचार का निशाना बना था और धूल में मिला दिया गया था । ऐसे धर्म का अनुयायी होने में मैं गर्व का अनुभव करता हूँ, जिसने महान् जुरथुस्त्र (पारसी अनु०) जाति के अवशिष्ट अंश को शरण दी और जिसका पालन वह अब तक करता आ रहा है । भाइयों, मैं आप लोगों को एक स्तोत्र की कुछ पंक्तियां सुनाऊंगा, जिसकी आवृत्ति मैं अपने बचपन से करता रहा हूँ और जिसकी आवृत्ति प्रतिदिन लाखों मनुष्य करते हैं—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम् ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।

(शिवमहिम्नस्तोत्र)

(जैसे विभिन्न नदियां भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकल कर अन्ततः समुद्र में मिलती हैं, हे प्रभो, वैसे ही भिन्न-भिन्न रुचियों के अनुसार विभिन्न सीधे अथवा टेढ़े मार्गों से जाने वाले लोग अन्त में तुममें ही मिलते हैं ।)

यह सभा जो अभी तक आयोजित सर्वश्रेष्ठ पवित्र सम्मेलनों में से एक है, स्वतः ही गीता के इस अद्भुत उपदेश का प्रतिपादन एवं जगत के प्रति उसकी घोषणा है—

ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।

(जो कोई मेरी ओर आता है, चाहे किसी प्रकार से हो, मैं उसको प्राप्त होता हूँ । लोग भिन्न-भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अन्त में मेरी ही ओर आते हैं ।)

साम्प्रदायिकता, हठधर्मिता और उसकी बीभत्स धर्मांधता इस सुन्दर पृथ्वी पर बहुत समय तक राज्य कर चुकी है । वे पृथ्वी को हिंसा से भरती रही है, उसको बारम्बार मानवता के रक्त से नहलाती रही है, सभ्यताओं का विध्वंस करती और पूरे-पूरे देशों को निराशा के गर्त में डालती रही है । यदि वे बीभत्स दानवी शक्तियां न होतीं, तो मानव-समाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत हो गया होता । पर अब उनका समय लद चुका है, और मैं हृदय से आशा करता हूँ कि आज प्रातः इस सभा के सम्मान में जो घंटाध्वनि हुई है, वह समस्त धर्मांधता का, तलवार या लेखनी के द्वारा होने वाले सभी उत्पीड़नों का, तथा एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले मानवों की पारस्परिक कटुता का मृत्युनाद सिद्ध हो ।

अन्तिम भाषण
२७ सितम्बर, १८९३

संसार में सब धर्मों के सम्मेलन की सम्भाव-परता आज पूर्ण रूप से सत्य सिद्ध हो गयी है । परमेश्वर ने उन लोगों की सहायता की है, जिन्होंने इसका आयोजन किया है तथा उनके निःस्वार्थ प्रयत्न को सफलतारूपी शुभ फल द्वारा विभूषित किया है ।

उन महानुभावों को मेरा धन्यवाद है, जिनके विशाल हृदय तथा सत्य के प्रति अनुराग ने पहले इस अद्भुत कल्पना का स्वप्न देखा और फिर उसे कार्य में परिणत कर दिया । उन उदार भावों को मेरा धन्यवाद, जिनकी इस सभामंच पर वर्षा हुई है । इन विद्वान् श्रोतृमण्डली को भी मेरा धन्यवाद, जिसने मुझ पर समानरूप से कृपा की है और ऐसे प्रत्येक भाव को आदरपूर्वक स्वीकार किया है, जो मत-मतान्तरों को आपसी घर्षणों को हल्का करने का प्रयत्न करता है । इस समरसता की मंजुल ध्वनि में कुछ बेसुरे स्वर भी बीच-बीच में सुने गए हैं । उन्हें मेरा विशेष धन्यवाद, क्योंकि उन्होंने अपने स्वर-वैचित्र्य से इस समरसता को और भी मधुर बना दिया है ।

धर्म-समन्वय की सर्वसामान्य भित्ति के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है । इस समय मैं इस सम्बन्ध में अपना मत आपके समक्ष नहीं रखूंगा । पर यह कह दूं कि यदि कोई महाशय यह आशा करें कि यह समन्वय किसी एक धर्म की विजय और बाकी सब धर्मों के विनाश से साधित होगा तो उनसे मेरा कहना है कि 'भाई ! तुम्हारी यह आशा असम्भव है ।' क्या मैं यह चाहता हूँ कि ईसाई लोग हिन्दू हो जाएं ? कदापि नहीं, ईश्वर ऐसा न करें ! क्या मेरी यह इच्छा है कि हिन्दू या बौद्ध लोग ईसाई हो जाएं ? ईश्वर इस इच्छा से बचावें ! बीज भूमि में बो दिया गया और मिट्टी, वायु तथा जल उनके चारों ओर रख दिया गया । तो क्या वह बीज मिट्टी हो जाता है, अथवा वायु या जल बन जाता है ? नहीं, वह तो वृक्ष ही होता है, वह अपने नियम से ही बढ़ता है—वायु, जल और मिट्टी को अपने में पचाकर, उनसे अपने अंग प्रत्यंग की पुष्टि करता हुआ एक बड़ा वृक्ष हो जाता है । पर बौद्ध धर्म के तिरोधान से हिन्दू धर्म भी कुछ अंशों में क्षतिग्रस्त हुआ—उसमें समाज-सुधार का वह उत्साह और तत्परता, प्राणिमात्र के प्रति वह अद्भुत सहानुभूति और दया तथा सर्वत्र ओतप्रोत वह अपूर्व जागृति की लहर नहीं रह गई जिसे बौद्ध धर्म ने जन-जन में प्रवाहित किया था एवं जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज इतना उन्नत और महान् हो गया था कि तत्कालीन भारत के सम्बन्ध में लिखने वाले एक यूनानी इतिहासकार को यह लिखना पड़ा कि एक ऐसा हिन्दू नहीं दिखाई देता, जो मिथ्या-भाषण करता हो; एक ऐसी हिन्दू नारी नहीं है, जो पतिव्रता-धर्म से भ्रष्ट हो ! हिन्दू धर्म बौद्ध धर्म के बिना नहीं रह सकता और न बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के बिना ही । हमारे पारस्परिक वियोग ने यह स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है कि बौद्ध, ब्राह्मणों के दर्शनशास्त्र और मस्तिष्क के बिना नहीं ठहर सकते, और न ब्राह्मण ही बौद्धों के विशाल हृदय बिना—यह निश्चित है । बौद्ध और ब्राह्मण के बीच यह विभेद ही भारतवर्ष की अवनति का कारण है । यही कारण है कि आज भारत तीस करोड़ भिक्षुओं की आवासभूमि हो गया है और सहस्र वर्षों से विजातीय आक्रमणकारियों का दास बना हुआ है । अतः आओ, हम ब्राह्मणों के उस अपूर्व मस्तिष्क के साथ महापुरुष बुद्धदेव के उस अद्भुत हृदय, महानुभावता और लोकहितकारी शक्ति को मिलाकर एक कर दें । □

काशी मुमुक्षु भवन सभा समाचार

अप्रैल, मई, जून १९९३

स्थायी भण्डारा (दण्डीक्षेत्र)

कच्चा भण्डारा : रोटी, चावल, साग, आदि ३५०० रु० एक बार में ।
पक्का भण्डारा : खीर, पूड़ी, साग, मिठाई, आदि ६००० रु० एक बार में ।
उपर्युक्त राशि के ब्याज से वर्ष में एक बार (एक दिन)

स्थायी भण्डारा

श्रीमती द्रौपदीदेवी बूबना, कलकत्ता	*पक्का*	३-४-९३
श्रीमती गंगुवाई मधुकरशिंदे, बम्बई	*कच्चा*	५-४-९३
श्री स्वामी केशवानन्द तीर्थ की आराधना, ईश्वर मठ	*कच्चा*	५-४-९३
श्री सन्तकुमार तिवारी, जबलपुर	*कच्चा*	७-४-९३
स्व० श्रीमती वैराग्यवतीदेवी, मुमुक्षु भवन (आराधना)	*कच्चा*	७-४-९३
श्री गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता	*कच्चा*	२१-४-९३
श्रीमती ललितादेवी शाऊ, बिहार	*कच्चा*	२३-४-९३
श्री हनुमानप्रसाद, वसन्तीदेवी सर्राफ	*पक्का*	२४-४-९३
श्रीमती रुक्मिणीदेवी गुटगुटिया, मधुपुर		
ब्रह्मलीन परमगुरुजी श्रीस्वामी घनश्यामानन्द तीर्थ की आराधना		२४-४-९३
श्री पूरनमल मोर, कलकत्ता		२५-४-९३
स्व० शिवबाबू एवं मनोजकुमार वर्नवाल द्वारा योगेशप्रसाद वर्नवाल, वाराणसी	*कच्चा*	२६-४-९३
श्री हजारीप्रसाद अग्रवाल, कलकत्ता	*कच्चा*	२९-४-९३
श्रीमती भगवतीदेवी बजाज, गुवाहाटी (आसाम)	*कच्चा*	६-५-९३
श्री कैलाशचन्द्र गोयल, हावड़ा	*कच्चा*	७-५-९३
श्री रामचन्द्र वियोगी, वाराणसी	*पक्का*	२१-५-९३
श्री गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता	*कच्चा*	२१-५-९३
स्व० बजरंगलाल शाह, हावड़ा	*कच्चा*	३०-५-९३
श्री मोहनलाल चौधरी, कलकत्ता	*कच्चा*	१२-६-९३
श्रीमती भगवानीदेवी मारु, वाराणसी	*फलाहार एकादशी*	१५-६-९३
श्री बालकृष्ण जगदीशप्रसाद केडिया, कलकत्ता	*कच्चा*	१७-६-९३
श्री सुरेशकुमार डोलिया, मेदिनीपुर	*कच्चा*	१८-६-९३
श्री गुलजारीलाल शर्मा, पटना	*कच्चा*	१९-६-९३
श्री गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता	*कच्चा*	२०-६-९३
श्री राजेन्द्रकुमार अग्रवाल, लखनऊ	*कच्चा*	२५-६-९३

अस्थायी भण्डारा

श्री स्वामी कपिलदेवानन्द तीर्थ की आराधना द्वारा स्वामी राधेश्वरानन्द तीर्थ ईश्वर मठ	*कच्चा*	२-४-९३
श्री ईश्वरस्वरूप ब्रह्मचारी, ईश्वर मठ	*कच्चा*	४-४-९३
श्री मोतीलाल डालमिया, कलकत्ता	*पक्का*	६-४-९३
श्री स्वामी रामभद्रानन्द तीर्थ, ईश्वर मठ	*कच्चा*	८-४-९३
श्री मालचन्द गाडोदिया, वाराणसी	*कच्चा*	९-४-९३
श्री स्वामी विष्णुदेवानन्द तीर्थ, ईश्वर मठ	*कच्चा*	१५-४-९३
श्री राम उपाध्याय, ईश्वर मठ	*कच्चा*	१६-४-९३
श्री एम० के० अग्रवाल, वाराणसी	*कच्चा*	१-५-९३
श्रीमती वंशराजीदेवी, मुमुक्षु भवन	*कच्चा*	३-५-९३
श्रीमती गोमतीदेवी खेतान, वाराणसी	*पक्का*	५-५-९३
श्री विश्वनाथ केजरीवाल, वाराणसी	*पक्का*	६-५-९३
श्रीमती रामकुमारीदेवी फोगा, सरदार शहर	*कच्चा*	२१-५-९३
श्री पातंजलि ब्रह्मचारी, आजमगढ़	*कच्चा*	२४-५-९३
श्री लखीराम अग्रवाल, वाराणसी	*फलाहार एकादशी*	३१-५-९३
श्री ब्रजभूषण चतुर्वेदी, फैजाबाद	*कच्चा*	६-६-९३
श्री रामेश्वरलाल पाण्डिया, चुरु, राजस्थान	*कच्चा*	९-६-९३
श्री रामानन्द मिश्र, आजमगढ़	*कच्चा*	१४-६-९३

श्रीमती भगवानीदेवी झँवर, वाराणसी	*कच्चा*	२१-६-६३
श्री महेशकुमार झुनझुनवाला, वाराणसी	*पक्का*	२४-६-६३
श्री स्वामी रामा आश्रम (कोतवालस्वामी), ईश्वर मठ	*समष्टि पक्का*	२५-६-६३
श्रीमती दुर्गादेवी काजड़िया, कलकत्ता	*कच्चा*	२६-६-६३
श्री स्वामी उमेश्वरानन्द तीर्थ, ईश्वर मठ	*कच्चा*	२८-६-६३
श्री स्वामी महादेवानन्द तीर्थ, ईश्वर मठ	*कच्चा*	२९-६-६३

अन्न क्षेत्र

श्री किशन अग्रवाल, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी	१०-४-६३
श्री जोधन सिंह, फतेहपुर	२१-४-६३
श्री रामअवतार चौमाल, हावड़ा	२२-४-६३
श्री योगेशप्रसाद बर्नवाल, भदोही, वाराणसी	२६-४-६३
श्री भोलानाथ कपूर, वाराणसी	२७-४-६३
न्यायमूर्ति श्री चतुर्भुजदास पारिख, वाराणसी (११ दिन)	३०-४-६३ से १०-५-६३
डॉ० आर० के० भाटिया, वाराणसी	२१-५-६३
श्री सजनकुमार सिंघानिया द्वारा श्रीमती भगवतीबाई साहिबगंज वाली, मुमुक्षु भवन	१६-६-६३

प्रथमा विद्यालय (अस्थायी)

श्रीमती किशनीबाई धनबाद वाली, मुमुक्षु भवन	*पक्का*	६-४-६३
श्री जोधन सिंह, फतेहपुर	*कच्चा*	२१-४-६३
कु० सूक्ति अग्रवाल, वाराणसी	*दुग्धवितरण*	३१-५-६३

अन्य

स्व० काशीनाथजी चौमाल द्वारा श्री रामअवतार चौमाल, हावड़ा	*ब्राह्मभोजन*	२२-४-६३
डॉ० श्रीमती उमा वार्ष्णेय, बी० एच० यू०, वाराणसी	*ब्राह्मणी भोजन*	२९-६-६३

भुवालका जन कल्याण ट्रस्ट (होमियोपैथिक दातव्य चिकित्सालय)

	नये रोगी	पुराने रोगी	कुल योग
अप्रैल ६३	३२२	१६५५	१९८७
मई ६३	३११	१५१६	१८२७
जून ६३	३०८	१४२६	१७३४

श्री कमला चैरिटी ट्रस्ट (आयुर्वेदिक दातव्य चिकित्सालय)

	नये रोगी	पुराने रोगी	कुल योग
अप्रैल ६३	१६५	६६२	८२७
मई ६३	१२७	७४०	८८७
जून ६३	१२३	६३१	७५४

चींटी को कन, हाथी को मन

सूर्य की पत्नी रानकदे ने पति से शिकायत की कि 'सबेरे से निकलते हैं और रात को घर लौटते हैं ? कहाँ जाते हैं ? दिन भर क्या करते हैं ?'

सूर्य देवता ने पत्नी को समझाया, 'मेरे सिर पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है । संसार में पशु-पक्षी, मनुष्य, पेड़-पौधे, सभी के लिए आहार की व्यवस्था करनी पड़ती है, चींटी को कन और हाथी को मन (चालीस किलो) भर देना पड़ता है ।'

रानकदे ने सूर्य देवता की परीक्षा लेने का निश्चय किया । एक चींटी उठाई और अपनी बिंदिया की डिब्बी में बंद कर दी । आज पूछूँगी कि 'इस चींटी के लिए कन का प्रबंध कहाँ किया ?' रात को सूर्य देवता आये । 'क्या हाथी को मन और चींटी को कन का इन्तजाम किया ?'

'हाँ, रानकदे ।' रानकदे ने मुस्करा कर बिंदिया की डिब्बी उठायी और खोला । चकित रह गयी रानकदे । चींटी के पास चावल का दाना था ।

'यह दाना कहां से आया ?'

'जब तुमने सबेरे बिन्दी लगाई थी, उस समय माथे पर लगा अक्षत इसमें गिर गया था । बस, इसी प्रकार चींटी को कन और हाथी को मन का इन्तजाम करता हूँ ।'

भगवान् भेज देते हैं

एक बार स्वामी विवेकानन्द रेल से सफर कर रहे थे । संयोग से जिस डिब्बे में विवेकानन्द सफर कर रहे थे, उसी में एक धनी-मानी सेठ भी सफर कर रहा था । विवेकानन्द का भरा-पूरा चेहरा, सुडौल शरीर और उस पर गेरुआ वस्त्र ! देख-देख कर सेठ जल रहा था । आखिर उसने विवेकानन्द से कह ही दिया—देखने में कैसे हट्टे-कट्टे हो, फिर भी भीख मांगकर खाते हो । लज्जा नहीं होती है ? विवेकानन्द ने कहा—'नहीं सेठजी, भीख नहीं मांगता ।' 'तब क्या चोरी करता है ?' सेठ ने पूछा । 'नहीं भगवान् भेज देते हैं ।' विवेकानन्द की बात सुन कर सेठ हंसने लगा ।

आखिर दिन बीता । रात भी बीत गई । विवेकानन्द बिना खाए-पिए चुप लगाए बैठे रहे ।

हाथरस स्टेशन पर गाड़ी रुकी । विवेकानन्द उतर गए । सेठ भी उतर गया । उसने चलते-चलते फिर एक चुटकी ली—'बाबा, भगवान् ने खाना तो नहीं भेजा हा-हा-हा !'

'जरूर भेज देगा' कहते हुए विवेकानन्द स्टेशन से बाहर निकले और एक पेड़ के नीचे जा बैठे । सेठ भी वहीं आकर बैठ गया । वह तो विवेकानन्द के पीछे हाथ धोकर पड़ चुका था ।

इसी समय कुछ लोग तरह-तरह के पकवान, तरह-तरह की मिठाइयां लिए वहाँ आ पहुँचे । फिर उनमें से एक आदमी ने आगे बढ़कर विवेकानन्द को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा—'प्रभो रात में स्वप्न में किसी ने मुझसे कहा—'अमुक पेड़ के नीचे मेरा भक्त भूखा बैठा है । उसे शीघ्र खाना दे आओ । इसलिए हम आए हैं । कृपा करके भोजन स्वीकार करें ।'

सेठ बगल में बैठा हुआ सब कुछ सुन रहा था, उसे काटो तो खून नहीं । अब उसे अपनी गलती मालूम हुई । वह उठकर विवेकानन्द के चरणों में जा गिरा ।

तुम तो मेरे साथ ही हो

एक बार परिब्राजक अवस्था में भ्रमण करते-करते स्वामी विवेकानन्द मथुरा पहुँचे । न उनके रहने का कहीं ठौर था, न खाने का कोई ठिकाना । प्रभु के ध्यान मग्न हो वन-नगर-गली-डगर आदि में घूमते रहते । शरीर पर एक वस्त्र छोड़कर और कुछ भी उसके साथ न था । घूमते-घूमते एक बार वे एक वन में पहुँचे । वन के भीतर एक जलाशय देखकर वे प्रसन्न हुए । अत्यन्त रमणीक तथा एकान्त स्थान था वहाँ उन्होंने अपना वस्त्र खोलकर एक पेड़ के डाल पर रख दिया और जलाशय में नंगे ही स्नान करने लगे ।

इच्छापूर्वक स्नान कर लेने के बाद जब वे अपना वस्त्र पहनने के लिए बाहर आए तो देखा कि वस्त्र गायब है ! असल में एक बन्दर उसे उठाकर भाग गया था । विवेकानन्द ने मन में कहा—'भगवान् तुमने मेरा वस्त्र गायब करवा दिया । तो लो अब मैं नंगा ही चला । अब जब तक कोई मुझे नया वस्त्र नहीं देगा तब तक मैं नंगा ही रहूँगा ।'

यह सोचकर वे आगे बढ़े । वे कुछ ही दूर आगे गए होंगे कि पीछे किसी के पुकारने की आवाज आई । उन्होंने पीछे मुड़ कर देखा । एक आदमी अपने हाथ में नवीन वस्त्र लिए दौड़ा आ रहा था । उसने विवेकानन्द के पास आकर कहा—'महाराज, मैं दूर खड़ा-खड़ा देख रहा था कि एक बन्दर आपका कपड़ा ले भागा है । इसीलिए मैं आपके लिए यह नवीन वस्त्र लेकर दौड़ता आया हूँ । दया कर इसे ग्रहण करें ।'

सुनते ही विवेकानन्द का हृदय आनन्द से भर उठा । उन्होंने गदगद होकर कहा—'हे प्रभु ! मैं तुमसे अभिमान कर रहा था । पर तुम तो मेरे साथ ही चल रहे हो ।'

नटराज

नटराज-मूर्ति का पादपीठ कमल है जिसके मूल से दो चाप (आर्क) उठते हैं और ऊपर उठकर एक ऐसे सम्पूर्ण वृत्त की रचना करते हैं जिसका निम्नतम बिन्दु है उक्त कमल का आधार; और उच्चतम बिन्दु नटराज के शीर्षचूड़ा को स्पर्श करता है। इस प्रकार पूरी मूर्ति इसी वृत्त की परिधि के भीतर है और सम्पूर्ण परिधि पर अग्निशिखाएँ व्यक्त हैं लपट फेंकती हुई; अर्थात् इसी अग्निवृत्त के भीतर नटराज का पंचक्रिया नृत्य चल रहा है। कमल के ऊपर एक वामन असुर पेट के बल सोया है जिसके हाथ में भी एक 'उरग' (सर्प) है। इसी वामन की पीठ को कुचलता हुआ नटराज का दक्षिण पग स्थित है और वाम पग नृत्य की भुजंग-दंश मुद्रा में है अर्थात् जमीन से तत्क्षणात् ऊपर उठा हुआ है। नटराज के शीश पर जटाजूट गंगा और चन्द्रमा हैं तथा एक नरकपाल भी है। यही शीर्ष-शृंगार वृत्त की परिधि को छू रहा है। चारों भुजाओं में दो प्रसारित हैं और अगल-बगल वृत्त की परिधि को छू रहा है। इनमें से दक्षिण में है डमरू और वाम में है अग्नि, शेष दोनों हाथ भीतर संकुचित हैं। इनमें दक्षिण हस्त अभय मुद्रा में तना हुआ है और वाम नीचे की ओर गजहस्त-मुद्रा में वाम पग की ओर संकेत करता हुआ ज्ञात होता है। इस प्रकार अग्निवृत्त के भीतर यह नटराज नृत्य चालू है। अग्निवृत्त का अस्तित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि यह वृत्त न रहे, परिधि-रेखा विलीन हो जाये तो भीतर का आकाश (स्पेस) बाहर के मुक्त आकाश का अंग बन जायेगा। सारा नृत्य थम जायेगा और शिव भी निर्गणु-निराकार में विलीन हो जायेंगे। नटराज की आँखें अर्ध निमीलित हैं, चेहरे पर शुद्ध आनन्द और शान्त रस का भाव है। होंठों की भंगिमा वैराग्य नहीं तृप्ति और परमसुख का भाव व्यक्त करती है। यह तृप्त, प्रशांत, आनन्दमय मुखमुद्रा ध्यानी बुद्ध के गम्भीर, शान्त, विजयी, दृढ़ मुख से भिन्न पड़ जाती है, विशेषतः होंठों की मुद्रा। बुद्ध के होंठों का कोण किसी दृढ़ता की सूचना देता है, आनन्द तरंगायित तृप्ति का नहीं। संक्षेप में प्रतिमा का रूप यही है।

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए नन्दकिशोर रूँगटा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
तथा वाराणसी एलेक्ट्रानिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०, चौक, वाराणसी द्वारा मुद्रित